जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बन सकता; धर्मकी जड़ तो त्यागमें ही है।

(हिं० न० जी० पृष्ठ ४१२ १५-८-२९

(—गांधीवाणी पृष्ठ ७४)

लेखक :

मुनि श्री नगराजजी

प्रकाशक :

र्श - सा हि त्य - संघ

रदारशहर, (राजस्थान)

प्रकाशक :

आदर्श-साहित्य-संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण २५००

मूल्य १।)

मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस

(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता।

भूमिका

"आचार्य भिक्षु और महात्मा गाँधी" का तत्त्व-चिन्तन विभिन्न परिस्थितियोंमें होते हुए भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है। वेदोंने धर्म-निरूपण अवश्य किया किन्तु वह उतना आध्यात्मिक न हो सका। आगे षट्दर्शनके कतिपय आचार्योंने उसे व्यापकता एवं सूक्ष्मता दी। षट्दर्शनमें धर्मका मूल अहिंसा में माननेवाला तथा उसका सर्वाङ्गीण दृढ़तासे समर्थन करनेवाला जैनधर्म ही है। महात्मा गांधीने प्रत्येक विचारधाराको परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उस सूक्ष्मताको पहुंची जहां उसने एक नवीन वादका सूत्रपात किया और उसे कह सकते हैं 'गांधीधर्म'। श्रेष्ठता और सूक्ष्मताकी दृष्टिसे 'जैनधर्म' और 'गांधीधर्म' सम हैं। महात्मा गांधी एक नए समन्वयात्मक धर्मके अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं जबकि आचार्य भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धर्मको नये सिरेसे मान्यता देनेवाले थे। महात्मा गाँधीने 'गाँधीधर्म' की सृष्टि की, आचार्य भिक्षुने 'जैन-धर्म' की पुनर्जागरणा की। किन्तु यहां व्यक्तित्वका प्रश्न नहीं है प्रश्न है, दोनों धर्माचार्योंके धर्म-निरूपणमें सादृश्य भावना

का। इस दृष्टिसे दोनों अधिकांशतः समकक्ष हैं।

कर्मका संचालक अवश्य ही विचार होता है किन्तु कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं जहां अन्योन्याश्रय धर्मोंकी उपादेयतामें संतुलन बनाए रखनेके लिए श्रद्धाके विपरीत भी तदनुकूल कर्मकी अनुमति देनी पड़ती है। ऐसी विवशताके अवसर उस व्यक्तिके सम्मुख अधिक आते हैं जो धर्मके साथ-साथ समाजका भी संचालक हो। समुदायसे तटस्थ रहनेवालेके लिए कमरूपमें अहिंसा जितनी सुलभ हो सकती है उतनी सुलभ वह किसी समाज-विधायक या राष्ट्र-विधायकके लिए नहीं हो सकती। तमसावृत्त भारतको स्वाधीनताका प्रकाश देनेवाले गांधीके लिए सूक्ष्म या सूक्ष्मतर अहिंसाकी क्रियात्मकता असंभव नहीं किन्तु कठिन अवश्य थी और वही कठिनाई समय-समय पर प्रतिभासित हो उठती है। आचार्य भिक्षुके सामने यह कठिनाई न थी। आवश्यक और अनावश्यक हिंसा तथा सूक्ष्म और स्थूल हिंसाके अवलोकनमें अन्तर्जगत्में दोनों एक हैं पर कर्म जगत्में दोनोंकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है पर वह भिन्नता उतनी ही है जितनी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर सृजित समाज-धर्म और सन्यास-धर्म में।

धर्म शब्दका अर्थ करनेमें शास्त्रोंने भी भूल की है और आगे भी धर्म और कर्तव्यमें विवाद रहा है। वस्तुतः धर्मको नीतिका पर्याय नहीं बनाना चाहिए। धर्म एक वस्तु है और नीति दूसरी वस्तु। धर्म शाश्वत है, नीति परिवर्तनशील। समाजके संतुलन

और उत्थानके लिए जिन कर्मोंको करना पड़ता है वह नीति है पर वह धर्म तबतक नहीं हो सकता जबतक उसमें आध्यात्मिक लक्ष्य न निहित हो। सामाजिक व्यवस्थाकी सुचारुताके लिए लिए नीति और धर्ममें सामंजस्य रखना पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक में धर्म और नीतिको क्रमशः मोक्षधर्म और समाजधर्म कहा गया है। मोक्षधर्ममें विशुद्ध पारलौकिक दृष्टिकोण रहता है, समाजधर्ममें लोकोपकारकी दृष्टिसे किए गए सब कार्य आ जाते हैं। आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीके धर्मकार्यमें यही अन्तर आ जाता है। आचार्य भिक्षुने लोकधर्मका निषेध नहीं किया, महात्मा गांधीने लोकधर्मके लिए खुल कर अनुमति दी। सृष्टिपर्यन्त समत्वके अधिकाधिक प्रसारके श्रद्धाभावको रखने वाला व्यक्ति यदि अनिवार्य हिंसाका त्याग नहीं कर पाता तो भी वह अहिंसक नहीं तो अहिंसाका पुजारी अवश्य है। ध्यान देने की बात यह है कि मानवयोनिमें सम्पूर्ण हिंसाका परित्याग जिस भांति गांधीने असम्भव बताया उसी भांति भिक्षुने भी। गांधीजीके शब्दोंमें बाह्य हिंसा और भिक्षुजीके शब्दोंमें द्रव्य हिंसासे सर्वथा उन्मुक्त होना असम्भव है किन्तु ऐसा भाव तो रखना ही चाहिए। यह असम्भवता इसलिए आई कि पृथ्वी, जल, पावक, पवन तथा वनस्पतिमें भी चैतन्य वर्तमान है और इनके प्रति किसी भी तरहकी दुर्भावना रखना या हानि पहुंचाना हिंसा है। स्पष्ट है कि मानवयोनि या किसी भी योनिमें इसकी क्रियात्मकता कितनी दुःसाध्य है।

बछड़ेका प्रसंग काफी विवादास्पद है किन्तु मैं लेखककी दृष्टि से सहमत नहीं हूं। हिंसाके दो रूप होते हैं, भावात्मक और कर्मात्मक। व्यक्तिके कर्मोंके विषयमें सद् असद् धारणा बनानेके पूर्व उसके मनःस्थित भावोंका पर्यवेक्षण आवश्यक है। बछड़ेको विष देते समय गांधीजीकी भावना विशुद्ध थी अतः भावात्मक विशुद्धताके कारण यह हिंसा दोषपरक नहीं हो सकती। आत्मा के अमरत्वमें विश्वास रखनेवाले महात्माजीने यदि असीम दया-भावसे प्रेरित होकर शरीर-व्यापक पीड़ाको शान्त करा दिया तो वह कर्म भी अनिवार्य हिंसाकी कोटिमें ही आता है।

मुनि नगराजजी तुलनात्मक धार्मिक विवेचनमें कहां तक सफल हुए हैं, यह प्रश्न तो व्यक्तिगत दृष्टिकोणकी अपेक्षा रखता है। फिर भी इतना अवश्य है कि मुनिजीका यह प्रयास भावी विचारकों एवं आलोचकोंको एक दृष्टिकोण देगा।

हटूंडी (अजमेर)

२७-५-५३

दो शब्द

यह सर्वसम्मत-सा तत्त्व है कि इस युगमें महात्मा गांधीने अहिंसाको पुनः अनुप्राणित किया, जबकि लोग भारतीय परतन्त्रताका कारण भी अहिंसाको मान बैठे थे। उन्होंने यह सिद्ध कर बताया—अहिंसा परतन्त्रता देनेवाली नहीं अपितु स्वतन्त्रता देनेवाली है। भारतवर्षमें ही नहीं किन्तु अन्य भूखंडोंमें भी जन-जनमें अहिंसा के प्रति आकर्षण बढा और अहिंसा अणु-अस्त्रसे भी बढ़कर एक अमोघ अस्त्र मानी गई। अहिंसा और गांधीका एक अमिट सम्बन्ध हो गया। अहिंसाका कोई भी विवेचक तद्विषयक गांधी-दृष्टिका उल्लेख किये बिना अपने विवेचनको पूर्ण नहीं मानता।

अधिकांश विवेचक गांधी-अहिंसाको उसके राजनैतिक पहलू तक बता कर ही अपने विवेचनकी परिसमाप्ति मान लेते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि व्यावहारिक जीवनके सम्बन्धमें महात्मा गांधीने अहिंसाका किसप्रकार मन्थन किया था। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने व्यावहारिक जीवनके विषयमें हिंसा और अहिंसाकी जो विवेचना की, जीवनके छोटेसे छोटे प्रसंगमें भी धर्म, अधर्म,

पुण्य, पापका निपटारा किया ; उसी प्रकार गांधीजीने भी इस विषयमें जी तोड़कर कलम चलाई है, जैसाकि आप प्रस्तुत पुस्तक में किये जानेवाले आलोचनात्मक विवेचनसे स्वयं जान सकेंगे।

आचार्य भिक्षु

आचार्य भिक्षु भी अपने युगके एक महान् क्रान्तिकारी अहिंसक हुए हैं। व्यावहारिक जीवनमें हिंसा और अहिंसाको लेकर धर्म, अधर्म, पुण्य, पापकी अनूठी छानबीन उन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्कसे की थी। महात्मा गांधीकी तरह वे भी अपने अहिंसात्मक आन्दोलनमें सफल थे, यह माना जा सकता है। उनके महत्त्वपूर्ण कार्य-कलापोंसे अवगत होना तो स्वतन्त्र अध्ययनकी अपेक्षा रखता है! यहां तो उनके जीवनकी एक झांकी सी दी जाती है।

आचार्य भिक्षुका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत कन्टालिया ग्राममें सं० १७८३ में हुआ था। २५ वर्षकी उम्र तक एक धर्म-गवेषकके रूपमें गृहस्थवासमें रहे। विभिन्न सम्प्रदायोंका अवलोकन किया। सं० १८०८ में एक सम्प्रदाय-विशेषमें जैनी दीक्षा ग्रहण की। आठ वर्षके लगभग उस संस्थामें रहे, शास्त्र-अध्ययन किया और अपने आचार-व्यवहारमें सिद्धांतको वास्तविकताकी कसौटी पर कसा। उन्हें यह भान हुआ—जिस अहिंसाकी साधनाके लिए हम सब कुछ त्यागकर निकले हैं ; यथार्थमें उस अहिंसाके समीप भी नहीं पहुंचे हैं। जीवन-व्यवहारमें अहिंसा

के नाम पर हिंसाको प्रश्रय देते हैं और धर्मके नाम पर अधर्मको। यह जीवनके साथ एक खिलवाड़ ही नहीं किन्तु पूरा - पूरा धोखा है।

इन्हीं क्रान्तिकारी विचारोंको लेकर उन्होंने अपना कदम आगे बढ़ाया। उन्होंने प्राणहीन ढरेसे चलनेवाले सम्प्रदायका मोह छोड़ा और सजीव साधुसंघकी स्थापना की, जो 'तेरापथ' के रूपमें संसारके सामने है। उन्हें जीवनभर विरोधियोंके साथ लोहा लेना पड़ा और विरोधियों द्वारा प्रदत्त अगणित कष्ट सहन करने पड़े। उन विरोधोंका, उन कष्टोंका यदि विस्तारपूक वर्णन किया जाये, तो एक रोमाञ्चकारी ग्रन्थ प्रस्तुत हो सकता है।

वे अहिंसाके मार्ग पर डटे रहे और विद्वेषका अहिंसात्मक प्रतिकार करते रहे। जीवन भर धर्म, अधर्म, पुण्य, पापके जटिल-तम प्रश्न अपनी तटस्थ बुद्धिसे सुलझाते रहे। अहिंसाके विषय में उन्होंने अपने तर्कपूर्ण नवीन विचार जनताको दिये, जो मान्यताके चालू ढरेंमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाते थे। हिंसा अहिंसा व धर्म अधर्मको लेकर विवेचनापूर्ण बहुतसे ग्रन्थ लिखे, जिनकी सम्मिलित श्लोक संख्या ३८००० है।

वे एक कुशल व्यवस्थापक भी थे। तेरापन्थ समाजका सुन्दर संघटन उनके चातुर्यकी देन है। तेरापन्थके वर्तमान अधिनेता आचार्य श्री तुलसी हैं, जो आजके जन-जीवनमें नैति-कताके नये प्राण फूंक रहे हैं। इन ख्यातनामा आचार्यवरके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

आचार्य भिक्षुके आप नवम उत्तराधिकारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक न तो इतिहास ही है और न जीवन-चरित्र। यह तो आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीके तुलनापरक विचारों का एक आलोचनात्मक संकलन है। गांधी-साहित्य पढ़नेका मुझे बचपनसे ही प्रेम रहा। लगभग १२ या १३ वर्षकी उम्रमें गृहस्थ-जीवनमें मैंने महात्मा गांधीकी आत्मकथा पढ़ी थी। यह इस विषयमें पहली पुस्तक थी। इसका मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था, जो मुझे आज भी याद हैं।

आजतक भी अध्ययनकी वही धारा चालू थी। विगत ५ या ६ वर्षोंसे आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीके विविध साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। यह तो मैं नहीं कह सकता—इस विषयमें पर्याप्त अध्ययन कर पाया हूं, किन्तु यह अवश्य कह सकता हूं—इस अवधिमें जो भी साहित्य मेरे सामने आया, उसमेंसे एक भी पुस्तक यों ही छोड़दी हो, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता।

इस विषयका मेरा अध्ययन और तज्जन्य धारणाएं नितान्त स्वतन्त्र हैं। मैं नहीं कह सकता—अन्य विचारक इस विषयमें मेरा कहां तक साथ देंगे। आलोचकोंसे मैं यह अवश्य चाहूंगा कि वे अपनी चिरन्तन बद्धमूल धारणाओंके आधारसे किसी निर्णय पर न पहुंचे।

साहित्य एक ऐसा उद्यान है, जिसमें पाठकोंके जितने दृष्टि-कोण होते हैं उतने ही द्वार होते हैं। भिन्न-भिन्न द्वारोंसे प्रवेश

करनेवाले व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारसे पुष्पोंको चुनकर ला सकते हैं। अस्तु आलोचकगण उदार तथा तटस्थ मनोपासे काम लेंगे।

आजसे लगभग तीन वर्ष पूर्व मैंने यह पुस्तक लिखी थी। इस बीचमें मुझे और भी तुलनात्मक सामग्री मिलती रही। अब जब कि इसके पुनरवलोकनका समय आया, बहुत कुछ आवश्यक था, कुछ नये परिच्छेद और लिखे जाते और कुछ पूर्व उपलब्ध और पश्चात् उपलब्ध सामग्रोको मिलाकर दुबारा लिखे जाते, किन्तु कुछ कारणोंसे ऐसा न हो सका। अतः बछड़ेकी घटनाके विषयमें जो विशेष संस्मरण प्राप्त हुए, उन्हें लेकर 'बछड़ेका प्रसंग' शीर्षक लेखका एक भाग और बढ़ा दिया गया है और कुछ अन्य सामग्रीका उपयोग दो परिशिष्टोंके रूपमें कर दिया गया है।

बहुत पहलेसे मेरी भावना थी—अहिंसाके कुछ प्रसंगों पर स्वयं महात्माजीसे ही विचार-विनिमय कर उनकी भावना जानूं। एक बार (१६४७ में) देहलीमें ऐसा प्रसंग भी आ गया, किन्तु कुछ कारणोंसे वह सम्पर्क केवल परिचय तक ही सीमित रहा। अतः साहित्यके आधारसे ही मैंने गांधी-अहिंसाको जो कुछ समझा। गांधी-अहिंसाके विषयमें मैं अपने आपको उतना ही अधिकारी समझता हूं जितना कि एक गांधीवादी विचारक अपने तटस्थ अध्ययन और अनुशीलन के आधारपर अपने को भिक्षु-अहिंसा का।

प्राचीन कालमें दो विचारधाराओंको लेकर खण्डन-मण्डनात्मक पद्धतिसे ग्रन्थ लिखे जाते थे। किन्तु आजकी परिस्थिति

सर्वथा इसके विपरीत है। युगने मनुष्यको समन्वयकी दृष्टि दी है। आजका जन-मानस प्रत्येक वस्तुमें समन्वयका तत्त्व ही खोजना चाहता है। प्रस्तुत आयास तथाप्रकारकी वुद्धिका ही परिणाम है। जनताने इससे कुछ भी लाभ उठाया तो मैं अपने श्रमको सार्थक मानूंगा।

लाडनूं (राजस्थान) —मुनि नगराज

ता० १५-४-५२

"आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी" के प्रकाशनमें सरदारशहर निवासी श्रीमान् हनुमानमलजी इन्द्रचन्दजी चोरड़ियाने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता श्री भीकनचन्दजी चोरड़ियाकी पुण्यस्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्यिक सुरुचिका परिचय दिया है जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघकी ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—शुभकरण दशानी

साहित्य मन्त्री

विषयानुक्रम

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

आवश्यक हिंसा

"हिंसा तीनों कालमें हिंसा ही मानी जायगी।"

—*महात्मा गांधी*

"ग्रोर वस्तुमें भेल हुवै, पण हिंसामें नहीं दया रो भेल।
पूरब नें पश्चिम रो मारग, किणविध खावै मेल॥"

—*आचार्य भिक्षु*

हिंसा पाप है, यह एक सर्वसम्मत तथ्य है, किन्तु आवश्यकता और अनिवार्यताके विशेषणयुग्मसे जब हिंसाका नाता जुड़ जाता है तो वही स्वयं विवाद-केन्द्र बन जाती है। 'अहिंसा परमो धर्मः' व 'मैत्री मे सर्वभूतेषु' का सार्वभौम सिद्धान्त खींचा-तानकी उलझनमें पड़ जाता है। परिणामतः हिंसा भी धर्मका बाना पहनकर मानव-हृदय पर अधिकार पा लेती है। आज

तक अनेकों विचारकोंने अहिंसाका मंथन किया। अहिंसाकी सार्वभौम सत्ताका पाठ संसारको बताया, किन्तु मानव-जीवन की आवश्यकताओंका भूत ज्योंही उठकर सामने आया, वे एका-एक अहिंसाका गला घोंटने पर उतारू हो गये।

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीने भी अहिंसाका जी तोड़ मन्थन किया। उनका आवश्यक हिंसा विषयक दृष्टिकोण तो विचार-जगत्में अपूर्वसा है। वह सर्वसाधारण की बद्धमूल धारणाके बहुत परे और वास्तविकताके बहुत समीप है। उक्त दो विचारकोंका सामञ्जस्यपूर्ण निर्णय भी पाठकोंके हृदयमें एक आश्चर्य और जिज्ञासा उत्पन्न करनेवाला सा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसाका अन्त.स्पर्शी विवेचन करते हुए लिखते हैं :—

> अर्थ अनर्थ हिंसा कीधां, अहित रो कारण तास।
> धर्म रै कारण हिंसा कीधां, बोध-बीज रो नाश ॥"

भावार्थ—आवश्यक या अनावश्यक हिंसा पाप है। हिंसा करके भी यदि उसमें धर्म माना जाता है तो उससे तो उसका बोध-बीज ही नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी सम्यग्-दृष्टि ही नष्ट हो जाती है।

आचार्य भिक्षुने बताया—अहिंसाका सम्बन्ध मात्र मानव-समाजसे ही नहीं है, वह पशु, पक्षी व वनस्पति आदि स्थावर प्राणियोंको भी अभय देती है। आवश्यक और अनावश्यककी मर्यादा मानव-कल्पित है। उसमें मानव-समाजका ही ऐहिक

हित अन्तर्निहित है। प्राणी-जगत्में वह मानवका स्वार्थवाद ही तो है।

उन्होंने बताया—स्थावर और जंगम; स्थूल और सूक्ष्म किसी भी प्राणीकी मन, वचन व कायासे हिंसा न करना अहिंसा[1] है। प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, जीनेका अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाके लिए किसी भी प्राणीका किसी भी प्रयोजनसे प्राण-हरण करता है, वह उसके प्रति अन्याय करता है। अतः वह हिंसा हिंसा ही है।

उन्होंने बताया – कुछ लोग कहते हैं, हम हिंसा करते हैं, हम यह मानते हैं कि वह पाप है किन्तु विना हिंसाके पुण्य भी नहीं हो सकता। हर क्रियामें पुण्य और पाप मिश्रित ही होते हैं। यह मिथ्या विश्वास है, अज्ञान है। वस्तुतः—

हिंसा री करणी में दया नहीं छै,
दया री करणी में हिंसा नांह।
दया नै हिंसा री करणी जुई छै,
ज्यूं तावड़ो नै छांह।"

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७०)

अर्थात्—हिंसाकी क्रियामें दया नहीं है और दयाकी क्रियामें हिंसा नहीं है। दया और हिंसाकी क्रिया दोनों इसी तरह पृथक् हैं, जिस तरह धूप और छाया।

---

१ अनुकम्पा गीति ९ दोहा २

उन्होंने बताया—कुछ लोग कहते हैं, हम एकेन्द्रिय प्राणियों को मारकर पंचेन्द्रिय प्राणियोंकी रक्षा करते हैं। किन्तु उन्हें समझना चाहिए—

"जीवां नै मार जीवां नै पोखै,
ते तो मारग संसारको जाणो।
तिण मांही साधु धर्म परूपै,
ते तो पूरा मूढ़ अयाणो॥"

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा २५)

अर्थात् जो एक प्रकारके जीवोंका वधकर दूसरे प्रकारके जीवोंका पोषण करते हैं, वह संसारका व्यवहार है। वह हिंसा आवश्यक व अनिवार्य हो सकती है किन्तु अहिंसा व धर्म नहीं।

आचार्य भिक्षुके सामने ये आये दिनके प्रश्न थे—मनुष्यके खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने फिरनेमें हर क्षण हिंसा होती रहती है, यदि वह भी पाप है तो मनुष्यका जीना भी कैसे सम्भव है? सांप, बिच्छू, सिंह आदि प्राणियोंका वध पाप कैसे? जब कि वे स्वयं हिंसक हैं। कुआं खोदने, तालाब बनवाने व अन्य लोकोपयोगी कार्योंमें हिंसा तो अवश्यंभावी है ही किन्तु समाज-हितके धर्मको विचारते हुए उसे अहिंसाकी कोटिमें क्यों नहीं मान लिया जाता? आदि।

हिंसा व अहिंसाकी भेद-रेखा आचार्य भिक्षुके विचारोंमें अत्यन्त स्पष्ट थी। उन्होंने बताया—यह नितान्त भूल है कि मनुष्य जो कुछ करता है या उसे करना पड़ता है, वह उस पर

अहिंसा व धर्मकी छाप लगाता रहे। यह नियम किस तर्कके आधार पर ठहर सकता है कि आवश्यक हिंसा धर्म व अहिंसा ही है। इस सिद्धान्तका निर्माण ही मानव-हृदयकी दुर्बलताकी आधार-शिला पर हुआ है। समाज-व्यवहारमें धर्म व अहिंसा उत्तम अर्थमें और हिंसा व पाप कुत्साके अर्थमें ग्राह्य हैं। मनुष्य अपने आपको उत्तम ही देखना चाहता है। यही कारण है कि वह अगणित प्राणियोंका नाश करता हुआ भी अपने कार्यमात्र पर धर्मका लेबिल लगाना चाहता है।

उन्होंने बताया—यह अहिंसाके साथ खिलवाड़ है। यदि उसका कार्य हिंसाके बिना नहीं चलता तो उसे मानना चाहिए कि मैं इस सीमा तक हिंसक हूं। हिंसक कहलानेसे उसके हृदयमें भय क्यों ?

एक आदमी घोड़ेपर सवार होता है, या उसे अपनी वैयक्तिक या सामाजिक आवश्यकताके अनुसार होना पड़ रहा है तो उसे यह सोच नहीं लेना चाहिए—इसकी पीठ पर चढ़ना मेरा धर्म है और मुझे लिये फिरना इसका। यह तो तभी हो सकता था कि इस समझौते पर घोड़ेके हस्ताक्षर करा लिये जाते। उसे सोचना तो यह चाहिए कि मैं भी एक प्राणी हूं और यह भी एक प्राणी है। मुझे कोई अधिकार नहीं कि इसकी स्वतन्त्रताको नष्ट कर इसकी पीठ पर बैठूं पर मेरी यह धृष्टता या दुर्बलता है कि इसकी पीठका त्याग नहीं कर सकता। ठीक इसी तरह समझना चाहिए कि विविध दृष्टिकोणसे विविध कार्य हमें करने पड़ते हैं,

वे हमारे सामाजिक कर्तव्य हैं। इस धरातल पर रहकर हम उन्हें छोड़ नहीं सकते पर अध्यात्म-दृष्टिकोणसे हिंसा तो है ही।

महात्मा गांधीके जीवनमें भी ऐसे अनेक प्रसंग आये, जिनमें उन्हें आवश्यक और अनावश्यक हिंसाके विषयमें अपना स्पष्ट मन्तव्य देना पड़ा। नीचे एतद् विषयक उद्धरण दिये जाते हैं। आशा है, पाठकजन उनका मननपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

"अहिंसाके माने सूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर मनुष्य तक सभी जीवोंके प्रति समभाव।"

(मंगल प्रभात पृष्ठ १८२)

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियोंके प्रति दुर्भावनाका सम्पूर्ण अभाव है, इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरोंका भी आलिंगन करती है।"

(गांधी वाणी पृष्ठ ३७)

महात्मा गांधीने एक बार कहा था—

"प्लेगके चूहे और चींचड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीनेका जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।"

ऐसा कहते हुए भी उन्होंने चूहे और चींचड़ मारनेके डाक्टर भास्कर पटेलके प्रयत्नका बिना संकोच समर्थन किया। बादमें जब उस पर टिप्पणी हुई, तब महात्माजीने उसका खुलासा किया। उन्होंने कहा—

"श्रद्धा और कर्ममें विरोध किसलिए? विरोध तो अवश्य है ही।

जीवन एक झंखना है। इसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिए मन्थन करनेका है। हमारी निर्बलताओं और अपूर्णताओंके कारण आदर्शको नीचे गिराना नहीं होना चाहिए। मुझमें निर्बलता और अपूर्णता दोनों हैं, इसका दुःखद भान मुझे है।"

"हालांकि धारसदके लोगोंके सामने मैंने अपने सहोदर चूहे, चींचड के विनाशका समर्थन किया तथापि मैंने जीवमात्रके प्रति शाश्वत प्रेम-धर्मका शुद्ध रूप भी बतलाया। इसका पूर्णतासे पालन मुझसे इस जन्ममें न हो सके तथापि इस सम्बन्धकी मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।" —(जीवमात्रकी एकता, व्यापक धर्मभावना पृष्ठ ९, १०)

"मनुष्यका जीवन अनेक मांडळोंसे भरा हुआ है। तात्त्विक दृष्टिसे जो सत्य मालूम देता है, उसे भी आचरणमें उतारना सदा सरल नहीं होता। यह छोटा सा दाखला ही लीजिए न, जीवमात्र समान हैं, एक हैं, हमें पापी और साधुके प्रति एक बुद्धिसे वरतना चाहिए। गीता कहती है—इसप्रकार हमें ब्राह्मण, कुत्ते और चाण्डालके प्रति समदर्शी होना चाहिए। परन्तु मेरा ही उदाहरण लो न, मैंने खुदने सर्प नहीं मारा यह ठीक है, किन्तु इसके मारनेमें कारण तो हुआ ही। मैं मानता हूं कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। परन्तु तुम लोग देखते हो, मैं इसे रोक नहीं सका, परन्तु मैं रोक नहीं सकता ऐसा विचार करू? यह किसीका काम नहीं। मैं सनातन (शाश्वत) सिद्धान्तका त्याग नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त है कि जीवमात्र एक हैं, मेरी ईश्वरसे प्रार्थना है कि मेरे मनसे सर्पका भय दूर करे। हमलोग जैसे दूसरोंको हाथमें लेते हैं, उसी तरह सर्पको

भी हाथमें ले सकें, ऐसी अहिंसा सिद्ध करने जैसा मुझमें बल दे। सिद्धान्त वह सिद्धान्त है, हमलोग सिद्धान्तको पालन करनेमें असमर्थ हैं, इसकेलिए सिद्धान्तको किसीप्रकार नीचे नहीं गिराया जा सकता। हमें इसे पहुंचनेका प्रयत्न करना चाहिए और वह परिश्रम ज्ञानपूर्वक; विचारपूर्वक और परिश्रमपूर्वक करना चाहिए।"

(सतत प्रयत्ननां जरूर, व्यापक धर्म भावना पृष्ठ १७७-१९८)

उपरोक्त प्रसंगोंके बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीकी विचारधारायें अहिंसाके इस पहलू पर किसप्रकार एक दूसरेकी समर्थक हो जाती हैं या दोनों परस्पर एक हो जाती हैं।

या यह जान लेना भी आवश्यक है कि महात्मा गांधीने उपरोक्त प्रसंगोंके अतिरिक्त कई एक अन्य प्रसंगों पर हिंसाकी आज्ञा दी है, उसका अनुमोदन किया है। कई स्थानों पर उन्होंने बन्दर आदि प्राणियोंकी हिंसामें धर्म और पुण्य भी कह दिया है किन्तु पूर्वापरके सारे प्रकरणोंका मनन करनेसे यही सिद्ध होता है कि वहां सर्वत्र उनका सामाजिक दृष्टिकोण रहा है और उस अनिवार्य हिंसाको उन्होंने समाजधर्म कहा है। जैसा कि एक स्थानपर वे कहते हैं—"खादीमें मैंने शुद्ध समाजधर्म देखा", इससे स्पष्ट है कि व्यापक धर्म या अध्यात्म धर्म उनकी भावनामें और ही रहा है। प्लेगके चूहोंकी हिंसा, जो कि एक बड़ी से बड़ी समाज सेवा मानी जाती है, उसे भी जब उन्होंने अपनी दुर्बलता या अपूर्णताका फल माना है, तब यह स्पष्ट ही है कि जहां कहीं

उन्होंने हिंसाको कर्तव्य माना है, वहां मौलिक दृष्टिकोण वही है।

पाठकोंके ध्यानमें रहे कि ऊपर जो आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीकी अहिंसाका सन्तुलन किया गया है, वह केवल सिद्धान्तसापेक्ष है, न कि साधनासापेक्ष, अर्थात् सिद्धान्त एक है, साधना दोनोंकी भिन्न-भिन्न है।

महात्मा गांधीने अपनी सामाजिक भावनाका परिचय देते हुए यदा कदा सूक्ष्म और स्थूल हिंसाको प्रोत्साहन दिया है और उस हिंसासे दूर होनेकी भी उनकी भावना रही है, ऐसा उनके शब्दोंसे प्रतीत होता है। आचार्य भिक्षु साधु होनेके नाते सर्वथा समाजनिरपेक्ष रहे। उन्हें अपने जीवनमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिंसाका भी अनुमोदन मान्य नहीं था।

सूक्ष्म हिंसा

भगवान् श्री महावीरने बताया था—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये भी सूक्ष्म जीव हैं। मनुष्यके आंख, कान आदि पांच इन्द्रियां हैं पर इन जीवोंके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय है। तथापि आहार, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियायें इनके भी होती हैं, सुख-दुःखकी अनुभूति भी इनके है। जीवत्वकी दृष्टिसे इनमें और मनुष्योंमें कोई अन्तर नहीं अर्थात् एक मनुष्यकी आत्मा कर्मानुसार इन योनियोंमें आ सकती है और पृथ्वी आदि के जीव मनुष्य-योनिको प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य भिक्षुको इन जीवोंके विषयमें उपरोक्त विचाराधारा अक्षरशः मान्य थी। इसलिए उनके अहिंसाके विवेकमें यह भी विशेप पहलू था। उन्होंने बताया कि हिंसासे पूर्णतः बचना

संसारी प्राणियोंके लिए असाध्य सा है तथापि अहिंसावादीको इन जीवोंकी अनावश्यक हिंसासे बचनेके लिए तो प्रतिक्षण विवेक-पूर्वक सचेष्ट रहना ही चाहिए। इस कथनानुसार ही बारह व्रत-धारी गृहस्थोंको इस हिंसाके विषयमें भी एक परिमाण-रेखा खींचनी पड़ती है अर्थात् जीवनकी आवश्यकताओंको मर्यादित कर शेष हिंसाका त्याग करना पड़ता है।

आतात्त्विकोंकी दृष्टिमें आजके भौतिक युगमें यह विवेक एक उपहासकी वस्तु बनती है पर अहिंसाके अन्तस्तलमें प्रवेश करने-वालोंकी दृष्टिमें यह विवेक परमावश्यक है।

महात्मा गांधीके जीवनमें तद्विषयक श्रद्धा और साधना कैसी थी, वह उनके जीवनके कुछ प्रसंगोंसे हम भलीभांति जान सकते हैं। वे बतलाते हैं :—

अग्निको प्रकट करनेमें हिंसा होती ही है, फिर उस अग्निमें हरी व सूखी वस्तुका होम करना विशेष हिंसा है—यह अनुभव-सिद्ध बात है। शास्त्रोंमें यह कहीं नहीं कहा कि पूर्वमें जो यज्ञ होते थे, उनमें हिंसा नहीं होती थी। पर यज्ञार्थ की हुई हिंसामें शास्त्रोंने निर्दोषताका आरोपण किया, जैसा कि निरामिष-आहारी वनस्पति खानेमें हिंसा है, ऐसा जानते हुए भी निर्दोषताका आरोपण कर मनको सन्तोष देते अर्थात् फुसलाते है।"

(यज्ञनो अर्थ (व्यापक धर्मभावना) पृष्ठ ३०८)

उपरोक्त पंक्तियोंसे कई बातों पर सीधा प्रकाश पड़ता है। प्रथम—अग्नि जीव है, द्वितीय—वनस्पति जीव है, तीसरी यह

कि लोग इस हिंसाको साधारण मानकर निर्दोष अर्थात् अहिंसक होना चाहते हैं। यह तात्त्विक नहीं, यह तो केवल मनको भुलावा देना है अर्थात कोई मनुष्य मांस नहीं खाकर वनस्पति खाता है तो वह एक बड़ी हिंसासे दूर होता है पर वनस्पति खाता है, वह कोई अहिंसा नहीं है क्योंकि वनस्पति भी तो जीव है, वहां निर्दोपताका आरोपण तो उसका कल्पित है।

ध्यान दें, दोनों विचारकोंकी विचारधारामें कितना सामञ्जस्य है।

महात्मा गांधी और भी एक स्थान पर लिखते हैं:—

"झाड़ पत्ते जितनी आवश्यकता हो, उतने ही तोड़ने चाहिए, तोड़ते समय विवेक रखना चाहिए, चाहे जैसे छेदन नहीं करना चाहिए।"

[हिन्दू आचार (व्यापक धर्म-भावना) पृ० १७]

यह है अनावश्यक हिंसासे वचनेका उपदेश। उपदेश-विधि में दोनों विचारकोंके एक अन्तर रहा है। आचार्य भिक्षु हिंसाजन्य कार्योंमें निपेधात्मक विधिसे उपदेश करते थे अर्थात् वे उपरोक्त आवश्यकतावश इसप्रकार कहते थे कि झाड़ पत्ते आवश्यकतासे ज्यादा न तोड़ने चाहिए; उसी स्थान पर महात्माजी कहते हैं—"जितनी आवश्यकता हो, उतने तोड़ने चाहिए।"

साधारणतया दोनों वाक्योंमें कोई अन्तर मालूम नहीं पड़ता पर तत्त्वतः श्री भिक्षुका वाक्य केवल हिंसाका निपेध करता है और होनेवाली आवश्यक हिंसामें निरपेक्ष है। महात्माजीका वाक्य अनावश्यक हिंसाका निपेध करता है और आवश्यक के लिए

आज्ञा प्रदान करता है। पर दोनोंमें यह कथन-भेद होना स्वाभाविक है। क्योंकि आचार्य भिक्षु सन्यस्त होनेके कारण केवल अध्यात्म-पथके ही दर्शक थे, वे विशुद्ध आध्यात्मिक कार्योंमें ही आदेश देते थे, पर महात्माजी समाज-व्यवस्थापक भी थे अतः आवश्यक हिंसाका विधान भी कर सकते थे। पर दोनोंकी तद्विपयक धर्म-अधर्मकी श्रद्धामें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। महात्माजी अपने निजके लिए आवश्यकतासे अधिक दातुन आदि तोड़ लेने पर तोड़नेवालेको वहुधा उलहना दे दिया करते थे। इससे पता चलता है कि आवश्यक हिंसासे वचनेका उनके हृदयमें कैसा विवेक था।

इसीप्रकार एक वार किसी व्यक्तिको जैसे-तैसे पलंगको घसीटते देखकर कहा—"इस प्रकार पलंगको खींचनेसे वायुके जीवोंकी हिंसा होती है।" इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे वायुकायको भी जीव मानते थे। पृथ्वीके जीवोंके विपयमें तो वे और भी स्पष्ट उल्लेख कर देते हैं। जैसे—

"जिस तरहमनुष्य मात्र ईश्वरकी कृति हैं, उसीतरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति हैं। अतः वे भी एक कुटुम्बरूप हैं अतः उनके प्रति भी हमें सद्भावना रखनी चाहिए। अतः मिट्टी या पत्थरका भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। हमारे धर्ममें तो ऐसी प्रार्थना सिखाई है—'हे धरती माता! तुझ पर हम रोज चलते हैं, तेरे ही आधारसे हम टिकते हैं, हमारे पैरके स्पर्शके लिए हमें माफकर।"

(विवरण-पत्रिका, अगस्त १९४७ गांधी और गांधीवाद पृष्ठ २७३-२७४)

इत्यादि प्रकरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीका इस विषयमें एक सा ही विश्वास था और एकसा ही उपदेश। आचार्य भिक्षुकी यह धारणा जैन-शास्त्रोंके आधार पर थी और महात्माजीकी संभवतः जैन व वैदिक दोनों ही के धर्मग्रन्थोंके आधार पर। पृथ्वी व वनस्पति आदिको जीव मान लेना ही इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, महत्त्वपूर्ण तो इस हिंसाकी भी विरक्तिका उपदेश है, उससे भी महत्त्वपूर्ण है इस प्रकारकी अनिवार्य हिंसाको भी धर्म न मानना।

जो अहिंसाका आदर्श लोक-व्यवहारके साथ इतना घुलमिल गया था कि साधारण जनताकी तो बात ही क्या, बड़े बड़े धर्माचार्य भी उस हिंसाको हिंसा या पाप कहनेका साहस नहीं कर सकते थे। उक्त दो विभूतियोंने अहिंसाके खण्डित आदर्शोंको शताब्दियों और सहस्राब्दियोंके बाद पुनः यथावस्थित रूपसे जनताके सम्मुख उपस्थित किया।

आचार्य भिक्षुने धर्म-अधर्मके विवेचनमें कहीं भी इस सूक्ष्म हिंसाकी अवगणना नहीं की। महात्माजी भी इसप्रकारकी हिंसासे किस प्रकार परिचित थे, यह निम्नोक्त उद्धरणसे भलीभांति जाना जा सकता है—

"अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हमलोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसाकी होलीमें फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसाके बिना जी नहीं सकता, खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छासे या अनिच्छासे कुछ न कुछ हिंसा करता ही

रहता है। इस हिंसासे छूट जानेका वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावनामें केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तुका भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसाका पुजारी है : उसकी प्रवृत्तिमें निरन्तर संयमकी वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाह्य हिंसासे कोई भी देहधारी सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।"

(—युद्ध और अहिंसा (धर्मकी समस्या) पृष्ठ १७५)

साधारण हिंसाके विषयमें कितना स्पष्ट और सुन्दर उल्लेख है। आचार्य भिक्षुकी दृष्टिमें पूर्णरूपसे पांच महाव्रतोंका पालन करनेवाला पूर्ण अहिंसक कहलानेका अधिकारी है। इनके कथनानुसार भी उक्तप्रकारके साधु व वीतरागके द्वारा भी अपरिहार्य हिंसा हो सकती है, पर वह भाव-हिंसा नहीं, द्रव्य-हिंसा है। गांधीजीके शब्दोंमें उसे यदि हम 'बाह्य हिंसा कहें तो आचार्य भिक्षुकी दृष्टिसे भी यह ठीक होगा कि बाह्य (द्रव्य) हिंसासे देहधारी सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षुने अपने धर्म - अधर्मके विवेचनमें इन स्थावर प्राणियोंकी कहीं भी उपेक्षा नहीं की। इन प्राणियोंकी अहिंसामें उनका कितना दृढ़ विश्वास था, इसका परिचय तो उनके निम्नोक्त शब्दोंसे ही मिलता है।

जो व्यक्ति इन साधारण प्राणियोंकी हिंसा कर खान-पान आदिसे मनुष्यको सुखी बनाते हैं, फिर उसमें धर्म होनेकी दुहाई देते हैं, उनके लिए कहा है —

"रांकानै मार धींगानै पोषै,
आ तो बात दीसै घणी गैरी ।
इण मांही धर्म परूपै,
तो रांका जीवां रा उठिया वैरी ॥"

(अनुकम्पा १३ वीं गीति)

इन वनस्पति, जल आदि रांक (असमर्थ) प्राणियोंकी हिंसा कर मनुष्य आदि समर्थ प्राणियोंका पोषण करना और उसमें फिर धर्म मानना, बड़ी अजीब सी बात है। इस प्रकार धर्म बतानेवाले व्यक्ति इन रांक प्राणियोंके लिए तो शत्रुरूप अवतरित हुए हैं।

निकटभूतमें बहुतसे अहिंसावादी इस भारतवर्षमें पैदा हुए हैं, जिन्होंने पशु-पक्षियोंकी करुण पुकार पर ध्यान लगाया पर इन स्थावर प्राणियोंकी मूक भावनाका अध्ययन करनेवाले संभवतः आचार्य भिक्षु पहले ही थे, जिन्होंने संसारको बताया कि इस हिंसाका सर्वथा त्याग यदि असंभव है तो इसमें धर्म मानकर हिंसामें आहूति तो न दीजाय।

गांधीजी एक समस्या

महात्मा गांधीकी अहिंसाका एक पहलू जनतामें बहुत कुछ सन्दिग्ध सा हो रहा है। अभीतक बहुतसे व्यक्ति उस पहलूको प्रकाशमें नहीं पासके हैं। वह सन्दिग्धता एक बहुत बड़ी ़समस्या पैदा कर देती है। वह भी यहां तक कि एक ओर ़हात्मा गांधी अहिंसाके परम आदर्श पर देख जाते हैं और ़सरी ओर सर्वथा इसके विपरीत। इस समस्याके मूल हैं— ़हात्माजी द्वारा दिए गए हिंसाके आदेश और विभिन्न स्थानों ़र विभिन्न अपेक्षासे बताया गया धर्म और पाप। जब कि ़तुत पुस्तकका विषय तुलनात्मक विवेचन है, यह आवश्यक हो ़ता है कि सम्पूर्ण तुलनाके पूर्व हम इस विषयमें असन्दिग्ध ़तिको पालें। एक ओर वे लिखते हैं:—

'प्राणी मात्रके प्रति दुर्भावनाका सर्वथा अभाव अहिंसा है।"

"हम आदर्शोंको नहीं पहुंच सकते, वह हमारी दुर्बलता है, पर इसलिए आदर्शको नहीं गिराना चाहिए" आदि।

दूसरी ओर वे लिखते हैं :—

"एक भाई जो शास्त्रादिके अभ्यासी हैं, लिखते हैं कि बन्दर कैसे रसोई बिगाड़ते हैं, चीजें उठा ले जाते हैं, फलमात्र खा और बिगाड़ जाते हैं, यहांतक कि बच्चोंको भी उठा ले जाते हैं। दिन-दिन उनकी बढ़ोतरी होती है, उनके लिए अहिंसा क्या कहती है, वह मुझसे पूछते हैं।

मेरी अहिंसा मेरी ही है। जीव-दयाका जो अर्थ किया जाता है, उसे मैं हजम नहीं कर सकता। जो जीव मनुष्यको खा जाय या उसका नुकसान करे, उसे बचानेकी दया मुझमें नहीं है। उनकी बढ़ोतरीमें हिस्सा लेना मैं पाप समझता हूं। इसलिए मैं चींटियों, बन्दरों और कुत्तोंको खाना नहीं खिलाऊंगा। उन जीवोंको बचानेके लिए मैं मनुष्य को नहीं मारूंगा।

इस तरह विचार करते हुए मैं इस नतीजे पर आया हूं कि बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गये हैं, उस जगह उनको मारनेमें जो हिंसा होती है वह क्षम्य है, ऐसी हिंसा धर्म होती है।

यह सवाल उठ सकता है कि मनुष्यके लिए यही नियम क्यों न लगाया जाय, अर्थात् बन्दरोंकी तरह कोई मनुष्य ऐसा दुष्ट है जो दूसरोंको दुःख पहुंचाता हो, उसको मारना भी क्षम्य और धर्म क्यों नहीं मान लिया जाय। मनुष्यके लिए यह नियम नहीं लग सकता,

ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि दी है, वह मनुष्येतर प्राणीको नहीं अर्थात् मनुष्यको मारना क्षम्य और धर्म नहीं माना जा सकता।"

—(—मो० क० गांधी
हरिजन २६-४-४६)

पाठक ध्यान दें, कहां तो जीवमात्रकी समानताका सिद्धांत और कहां मनुष्योंकी सुख-सुविधाके लिए वन्दरोंकी हिंसा भी धर्म और कहां प्राणी-जगत्में मनुष्यकी श्रेष्ठताका विश्वास।

पुनः एक स्थान पर लिखते हैं :—

"नीति उसी वक्त धर्म रह सकती है जबकि उसे चलाया जाय, उसके बाद नहीं। धर्मकी और बात होती है, वह तो अमर है, कभी बदल नहीं सकता।" —(हिन्दुस्तान १५ जुलाई १९४७)

एक स्थान पर धर्मकी अपरिवर्तनशीलता बताकर अन्यत्र लिखते हैं :—

"एकका धर्म दूसरेके लिए अधर्म हो सकता है। मांस खाना मेरे लिए अधर्म है, मगर जो मांस पर ही पला है, जिसने मांस खानेमें कभी बुराई नहीं मानी, वह मुझे देखकर मांस छोड़ दे, वह उसके लिए अधर्म होगा।

"मुझे खेती करनी हो, जंगलमें रहना हो तो खेती करनेके लिए लाजिमी हिंसा मुझे करनी ही होगी। बन्दरों परिन्दों और ऐसे जन्तुओंको जो फसल खा जाते हैं, खुद मारना होगा या ऐसा आदमी रखना होगा जो उनको मारे; दोनों एक ही चीज हैं। जब अकाल सामने हो, तब अहिंसाके नाम पर फसलको उजड़ने देना मैं तो

पाप ही समझता हूं। पाप और पुण्य कोई स्वतन्त्र चीजें नहीं हैं। एक ही चीज एक समय पाप और एक समय पुण्य हो सकती है।"

मसूरी, २९-५-४३

(—'हरिजनबन्धु' से)

इसीप्रकार एक स्थान पर और लिखते हैं :—

"मछली या मांस खानेवालेको ये चीजें खानेदेनेमें जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नहीं मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हू।"

(—दैनिक हिन्दुस्तान)

ठीक इन पंक्तियोंके अनन्तर ही लिखते हैं :—

"अहिंसा परम धर्म है ही, हम उसका पूर्णतासे पालन न कर सकें तो भी उसके स्वरूपको समझकर हिंसा जितना बच सकें, बचें।"

इत्यादि सन्दिग्ध प्रसंगोंके कारण ही गांधीजी एक समस्या बन जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारकी आलोचनाएं इस विषयमें हमारे सामने आती हैं—कई कहते हैं, उनकी अहिंसा केवल मनुष्य तक ही सीमित थी। वे एक राजनैतिक व्यक्ति थे। मानव, देश और संसारके लिए ऐहिक दृष्टिसे जो ठीक था, वही उनका धर्म था।

कई कहते हैं—महात्मा गांधीकी अहिंसा परिपक्व अर्थात् निश्चित नहीं थी। वे जैसा प्रसंग देखते थे, उस समय वैसा ही उसका समाधान कर दिया करते थे। यही कारण है कि उनके बहुतसे सिद्धान्त परस्पर विरोधी देखे जाते हैं। वे एक जगह जिस हिंसाको पाप कहते हैं, दूसरी जगह उसी हिंसाको धर्म कह देते हैं।

कई कहते हैं—गांधी -अहिंसा और जैन-अहिंसाके अनुरूप ही है तो कई कहते हैं कि गांधी-अहिंसाका जैन-अहिंसाके साथ सन्तुलन करना जैन-अहिंसाका अपमान करना है आदि।

इसप्रकार बहुतसे विवाद अच्छे-अच्छे पत्रोंमें और जन-समूहमें पढ़े और सुने जाते हैं। पर किसी भी व्यक्तिकी विचार-धाराको समझनेके लिए इधर-उधरसे दो-चार स्फुट प्रसंगोंको पढ़ कर जो निर्णय किया जाता है वह किसीप्रकार विश्वस्त नहीं होता। उपरोक्त विभिन्न निर्णय इसी बातके सूचक हैं। वास्तविक निर्णय तो मूलतः समस्त विषयके मन्थनसे ही पैदा हो सकता है।

नीचे के उद्धरणों पर ध्यान दें। पूर्वोक्त सारे प्रसंगोंका वहां सुन्दर स्पष्टीकरण मिलेगा। 'अहिंसा' नामक पुस्तकके पृष्ठ १२८ पर 'हिंसक-प्राण-हरण' शीर्षक प्रकरणमें महात्मा गांधी लिखते हैं :—

"आश्रममें बन्दरोंका उपद्रव दिनों दिन बढ़ता ही जाता है। वे फल, झाड़ और शाक-भाजीका नाश कर रहे हैं। इस उपद्रवसे बचनेका उपाय मैं खोज रहा हूं। जो इस सम्बन्धमें रास्ता बतला सकते हैं, वैसे लोगोंकी सलाह ले रहा हू। मुझे अबतक कोई निर्दोष उपाय नहीं मिला है किन्तु अनेक आदमियोंके साथ चर्चा करता हू और इसलिए शहरमें अनेक तरहकी अफवाह चल रही है और मेरे पास कई तीखे पत्र आये हैं। एक पत्र-लेखक मानते हैं कि आश्रममें तीरसे बन्दरोंको घायल किया जाता है और कितने बन्दर मर भी गये हैं। यह खबर झूठी है। बन्दरोंको हांक निकालनेका प्रयत्न अवश्य

चलता है। तीर भी काममें लाये गये हैं। किन्तु न कोई वन्दर घायल किया गया है और न कोई मरा है। घायल करनेका काम खुद मेरे लिए असह्य है। अनिवार्य हो पड़े तो उन्हें मार डालनेका चर्चा में कररहा हूं।"

वन्दरको मार भगानेमें मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों कालमें हिंसा ही गिनी जायगी। उसमें वन्दरके हित का विचार नहीं है किन्तु आश्रमके ही हितका विचार है।"

"देहधारी जीवमात्र हिंसासे जीते हैं। उसके परम धर्मका दर्शक शब्द नकारवाचक निकला। जगत् यानी देहमात्र हिंसामय है और इससे अहिंसा-प्राप्तिके लिए देहको आत्यन्तिक मोक्षकी तीव्र इच्छा पैदा हुई।"

"हिंसाके विना कोई देहधारी प्राणी जी नहीं सकता। जीनेकी इच्छा छूटती ही नहीं है। अनशन करके छूटनेकी इच्छा मनको नहीं है, देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भमें खपायेगा और आत्माको अधिक वन्धनमें डालेगा। ऐसी दयावती स्थितिमें रहकर जीनेकी इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाजने कितनी एक हिंसाओंको अनिवार्य गिनकर व्यक्तिको विचार करनेके भारसे मुक्त किया तो भी प्रत्येक जिज्ञासुके लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करनेका प्रयत्न तो वाकी रहा ही है।"

"इस दृष्टिसे सर्वव्यापी खेतीके धन्धेमें रही हुई हिंसाकी मर्यादा

का निश्चय अहिंसा-धर्म पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले किसानको करना रहा है। मैं अपनेको किसान मानता हूं मेरे सामने कोई सीधी लीक नहीं पिटी हुई है। प्रत्येक किसान बिना विचारे किसी न किसी तरहसे अपना गुजर चला ही लेता है। क्योंकि विशिष्ट वर्गने उसकी अवगणना की है। उनके जीवनमें भाग नहीं लिया है, दिलचस्पी नहीं ली है और इसलिए वे अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उन्नत न हीं कर सके हैं। इसलिए मेरे जैसे किसानको तो अपना मार्ग ढूंढकर दूसरे किसान भाइयोंके लिए होसके तो मार्गदर्शक बनना रहा।"

"इस तरह खेती पर लागू होनेवाले अनेक प्रश्न जो नित्य पैदा होते हैं, उनमेंसे बन्दरोंका अटपटा प्रश्न भी एक है।"

"किन्तु उसे मृत्युदण्ड देनेमें हिंसा तो है ही, इसलिए यह अन्तिम कार्रवाई करनेके पहले जितने लोगोंकी सलाह ली जा सके उतनोंकी मैं लेना चाहता हूं। और नवजीवनके पाठकोंमेंसे अगर कोई अनुभवी सज्जन आश्रमको रास्ता बतला सकेंगे तो वे उपकार करेंगे।"

मैंने सुना है कि गुजरातके किसान ऐसे उपाय रखते हैं कि उन्हें देखते ही बन्दर डरकर भाग जाते हैं और यों किसान मानते हैं कि हम अन्तिम हिंसासे बचें। यह संभावित है किन्तु इसके बाद तो मरण-दंड है ही। क्योंकि मैं जानता हूं कि बन्दर ऐसे विलक्षण होते हैं कि उन्हें कोई मारनेवाला नहीं है, तब वे गोलीकी बाढ़से भी नहीं डरते और उल्टे किकियारी करते हैं। इसलिए कोई सलाहकार यों न माने कि इस उपद्रवसे खेतोंको बचानेका एक भी उपाय आश्रमने न जाना न

विचारा है। जितना जाना है उन सबमें हिंसा तो है ही। जो बिना हिंसाके इस उपद्रवसे खेतीको न बचाया जा सके तो यह विचार करना रहा कि कमसे कम कितनी हिंसासे बचाया जा सकता है। इसमें मैं अनुभवीकी मदद चाहता हूं।"

(अहिंसा नामक पुस्तक पृ० ५०-५२)

"बन्दरोंके बारेमें मैं अपना धर्म नहीं जानता। इस कारण ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मैंने चर्चा की है। इस बारेमें मुझे सहायक पत्र मिले हैं। बन्दरोंके बारेमें मैं इतना कह दूं कि जब मेरा कुछ भी नहीं चलेगा, तभी प्राण हरण तक मैं जाऊंगा। मैं जानता हूं कि मेरा धर्म उसमेंसे बच जाना है। उसमेंसे बचनेके लिए ही यह चर्चा है।"

(अहिंसा नामक पुस्तक पृ० ५४)

एक बार महात्मा गांधीसे प्रश्न किया गया :—

"कोई मनुष्य या मनुष्योंका समुदाय लोगोंके बड़े भागको कष्ट पहुंचा रहा हो, दूसरी तरहसे उसका निवारण न होता हो तब उसका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसामें खपेगा या नहीं? इस स्थलमें भी पापी—पीड़ा देनेवालेका वध-करनेमें भावना ऊंची होनेसे वह वध क्या अहिंसक नहीं गिना जायगा? फसलका नाश करनेवाले जीवोंके नाशको आपने हिंसा नहीं गिना है। उसी भांति मानव-समाज का नाश करनेवाले आदमीके नाशको क्या आप अहिंसा न मानेंगे?"

महात्माजीने उत्तर दिया :—

"विवेकी पाठक तो यह देख ही गये होंगे कि इस पत्रमें मेरे लेख का अनर्थ हुआ है। अहिंसाकी जो व्याख्या मैंने दी है, उसमें ऊपरके

तरीके पर मनुष्य-वधका समावेश हो ही नहीं सकता। किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसामें गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय, किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है। किसानकी हिंसामें या लेखकने जो दृष्टान्त दिया है उसमें रही हुई हिंसामें समाजका स्वार्थ छिपा हुआ है। अहिंसामें स्वार्थको स्थान नहीं है।

पत्र-लेखकके प्रश्नका मिलान बन्दरोंके प्रश्नसे जरूर किया जा सकता है मगर तो भी दोनोंमें बहुत भेद है। बन्दरका हृदय-परिवर्तन करनेका कोई सामाजिक उपाय हमारे पास नहीं है, इसलिए उसका प्राण-हरण शायद क्षम्य गिना जाय, किन्तु पापीसे पापी कष्ट देनेवाले मनुष्यका हृदय-परिवर्तन हमेशा शक्य है। ऐसे परिवर्तनके लिए इलाज की भी योजना समाजने की है। इसलिए अहिंसक प्रकरणमें स्वार्थी-मनुष्य-वधको कभी स्थान नहीं मिल सकता: मुझे ऐसा नहीं सूझ सकता कि मनुष्य-वध अनिवार्य होवे। अब रही भावनाकी बात। यह यथार्थ है कि मैंने भावनाको प्राधान्य दिया है। किन्तु अकेली भावनासे अहिंसा नहीं सिद्ध हो सकती। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावनासे ही अहिंसा न मानी जायगी। भावनाका माप भी कार्य परसे ही निकालना पड़ता है। और जहां स्वार्थके वश होकर हिंसा की गई है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो, तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलटे जो मनमें वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारीसे उसे काममें नहीं ला सकता, उसे वैरीके प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावनामें वैर छिपा हुआ है

इसलिए अहिंसाका माप निकालनेमें भावना और कार्य दोनोंकी परीक्षा करनी होती है।"

(अहिंसा पृष्ठ ५७)

एक बार एक किसान भाईने पत्र लिखा :—

"हमारे गांवके नजदीक ढोरोंकी चरागाह है। उसमें ५-७ हजार हरिण हैं। वे हमारी कपासके अंकुर खा जाते हैं। हम बहुत हैरान होते हैं। ठाकर लोगोंको रक्खें तो वे उन्हें मार सकते हैं मगर वे तो इनका मांस भी खाते हैं। हमारे जैसे लोगोंको आप क्या सलाह दीजियेगा। इसके अलावा खापरडा (एक जातिका कीड़ा) हमारे बीज और अनाज खा जाते हैं। खेतमें अगर आग जलावें तो उसमें ये आ पड़ते हैं और यों हमारे अनाजकी रक्षा हो तो हमें आग जलानी चाहिए या नहीं ?"

महात्माजीने जो उत्तर दिया, वह अन्तर भावनाको स्पष्ट व्यक्त करता है :—

"यह प्रश्न बन्दरवाले प्रश्नके सम्बन्धमें है। हिंसाके मार्गमें किसी का भी नेतृत्व करनेमें असमर्थ हूं। यह कोई तीसरा आदमी नहीं बतला सकता—किस हद तक किसीको हिंसा करनी चाहिए, किन्तु सभीको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अपना रास्ता ढूंढ़ना चाहिए। सामान्य रीतिसे यों कहा जाता है कि बन्दरको मारना मैं शायद अनिवार्य मानूं तो इससे दूसरोंका भी हरिणको मारनेके लिए तैयार होना न्याय-बुद्धि नहीं किन्तु अज्ञानमय अनुकरण है। फिर बन्दरको मारनेका निर्णय मैं कर ही नहीं सका हूं। और यह भी नहीं देखता हूं कि मैं इस

निर्णय पर जल्दी आ सकूंगा। ऐसे निर्णयसे जहां तक दूर रहा जा सके रहनेका मेरा प्रयत्न आज है और हमेशा रहेगा। इसके अलावा हरिण को दूर रखनेके कई उपाय मिल सकते हैं, जो बन्दरके समान बहुत मुसीबतसे हाथमें आसकनेवाली जातिके सम्बन्धमें अशक्य हो पड़ते हैं। यह तो हरएक किसान क्षण-क्षणमें अनुभव करता है कि खेती के लिए छोटे-छोटे कीड़ोंका नाश अनिवार्य है। इससे आगे जाकर इस वस्तुको ले जाना मेरी शक्तिके बाहर है। हिंसा करनेसे जिस अंश तक बचना संभव हो, उस अंश तक बचाना सबका धर्म है—यह अवश्य कहा जा सकता है।"

जहां तक मैं सोचता हूं, इन स्पष्टीकरणों के बाद गांधीजी कोई समस्या नहीं रहते। यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस किसी भी हिंसा के लिए उन्होंने आदेश दिया या उसका अनुमोदन किया, वहां सर्वत्र उनकी निष्ठा तो अहिंसा में ही रही है। हिंसा को उन्होंने सर्वत्र पाप माना है, चाहे वह कितनी ही आवश्यकता से किसी भी वैयक्तिक या अवैयक्तिक हित के लिए की गई हो। उनके उक्त प्रसंगों में कहे निम्नोक्त शब्द उनकी अहिंसाविषयक श्रद्धा को हमारे सामने साकार उपस्थित कर देते है :—

"हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही गिनी जायगी", "किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया हो नहीं। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।"

प्लेगके चूहे और चींचड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीनेका जितना

अधिकार मेरा है, उतना उनका है", आदि।

अब केवल एक ही आशंका रह जाती है कि जब अहिंसा में उनकी यह श्रद्धा थी कि हिंसा धर्म नहीं हो सकती तो "बन्दरों के मारनेमें जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है, ऐसी हिंसा धर्म होती है" "मछली और मांस खानेवाले को ये चीजें खाने देने में जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नहीं मानता, मैं उसे अपना धर्म समझता हूं" "अहिंसाके नामपर फसल को उजड़ने देना मैं तो पाप मानता हूं" इत्यादि कार्यों में स्पष्ट धर्म और पापका उल्लेख क्यों किया गया ? इससे क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि उनकी दृष्टिमें अहिंसाके परे भी कोई धर्म था, जो हिंसाके साथ भी रह सकता था ? पूर्वापर प्रसंगोंसे अवगत होनेके बाद यही मानना पड़ता है कि हिंसायुक्त कार्योंमें भी जहां उन्होंने धर्म माना है, वहां सर्वत्र उनका सामाजिक दृष्टिकोण रहा है। उन्होंने उसे अपना समाज-धर्म माना है, न कि अध्यात्म-धर्म।

आत्मधर्म और समाजधर्मका गांधीवादमें क्या स्थान है और उनका पृथक्त्व किस प्रकार मान्य है, यह किसी आगेके प्रकरणमें यथासंभव बताया जायगा।

यहां तो केवल सारांशरूपमें यह जान लेना ही पर्याप्त होगा कि महात्माजी की श्रद्धा सम्पूर्ण अहिंसामें थी पर समाजका उत्तरदायित्व समझते हुए उन्हें सामाजिक दृष्टिसे आवश्यक और अनावश्यक हिंसाके बीच एक भेद - रेखा खींचनी पड़ती थी। आवश्यक हिंसाको वे उपादेय भी बताते थे। वे अपने

आपको सिद्धान्ततः पूर्ण अहिंसक मानते थे पर अपनी साधना से नहीं।

जहां तक सोचा जाता है, अब गांधीजी इस विषयमें को समस्या नहीं रह जाते। तुलनात्मक विवेचनका मार्ग स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म

आचार्य भिक्षुने अहिंसाकी व्याख्या की थी :—

"छव काय हणै हणावें नहीं,
हणतां भलो न जाणै ताय।
मन वचन काया करी,
ए दया कही जिणराय॥"

(अनुकम्पा अष्टम गीति दोहा ३

भावार्थ—पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय औ बेइन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक जो त्रस प्राणी हैं अर्थात् छः काया जीव हैं; उन्हें मन, वचन, कायासे न मारना, न मरवाना, किसी मारते हुएको अच्छा समझना दया है, अहिंसा है। साथ साथ यह भी बताया कि "जो हिंसामें धर्म हुवै तो जल मथिय घी आवै।" प्राणीमात्र की हिंसा हिंसा है और हिंसामें धर्म

सर्वथा अभाव है। आचार्य भिक्षुके सारे सिद्धान्तोंकी जड़ यही अनन्तरोक्त उक्ति है। उन्होंने धर्म, अधर्म की प्रत्येक समस्या इस मौलिक सिद्धान्तको अक्षुण्ण रखते हुए ही हल की है। इस धर्मके मूल सूत्रको अक्षुण्ण रखनेके कारण उनके तद् विषयक बहुतसे समाधान तत्कालीन जनताकी बद्धमूल धारणाओंसे प्रतिकूल होते थे। पर उनकी आत्मामें इस बातका भय न था। वे उस सत्यको जनता व अन्य धर्म-सम्प्रदायोंके समक्ष रखनेमें जरा भी नहीं हिचकिचाते थे।

उदाहरणार्थ कुएँ बनवाना, धर्मशाला बनवाना, पाठशाला, औषधालय, पुस्तकालय आदि खोलना धर्मके मौलिक कार्य समझे जाते थे और अब भी समझे जाते हैं। आचार्य भिक्षुका इस विषयमें स्पष्ट मन्तव्य यह था—आत्माको कर्ममुक्त करनेवाला धर्म तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमय है। अक्रोध, अमान, अदम्भ, अकलह, भौतिक वासनाओंसे निवृत्ति, क्षमा, शील, सन्तोष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनेकों नामोंसे जो पहचाना जाता है। पूर्वोक्त सार्वजनिक कार्य समाज-व्यवस्थाके अंग हैं। प्रत्येक व्यक्तिको जलकी आवश्यकता होती है। एक-एक व्यक्ति यदि एक-एक कुआं खोदता है तो अनावश्यक समय, शक्ति और क्षेत्रका व्यय होता है। इसी विचारधाराके फलस्वरूप सार्वजनिकताका उद्भव हुआ। गांवके सारे व्यक्तियोंके सम्मिलित धन और शक्तिसे कुएका निर्माण होने लगा। यह एक सामाजिक व्यवस्था बन गई।

दूसरे यह हिंसासाध्य है। अतः कुआं बनवाना कोई आध्यात्मिक या पारलौकिक धर्म नहीं कहा जा सकता। आवश्यकतानुसार अन्न पैदा किया जाता है, मकान बनाया जाता है, इसी प्रकार कुआं बनाया जाता है। यह आत्म-धर्म हो भी तो कैसे? प्रश्न यह रहा कि कोई व्यक्ति केवल अपनी धन-राशिसे परोपकारार्थ यदि कुआं बनाता है, क्या वह भी मोक्ष-साधनाका कार्य नहीं है? वह परोपकार भी मानवमात्रका है न कि जल और पृथ्वीकायिक जीवोंका।

आचार्य भिक्षुका विश्वास जीवमात्र की समानतामें था।

"सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउं न मरजिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं,
निग्गन्था वज्जयंति णं॥"

अर्थात्—प्राणीमात्र जीनेकी इच्छा करते हैं। मरनेकी इच्छा कोई नहीं करता अतः प्राणी-वध पाप है।

"सव्वेसिं जीवियं पियं"

अर्थात् प्राणीमात्रको जीवन प्रिय है।

भगवान् महावीरके ये वाक्य उनके प्रतिक्षणके मार्गदर्शक थे। उन्होंने बताया—कूप आदिके निर्माणमें मानवके हितकी पुष्टि है, जल और पृथ्वीके जीवोंकी नितान्त उपेक्षा है। उनका प्राणनाश वहां अवश्यंभावी है। अतः जीवमात्रकी समानतामें विश्वास रखनेवाला व्यक्ति उस साधारण हिंसाको भी धर्म नहीं

मान सकता क्योंकि अहिंसा तो 'सव्वभूयखेमंकरी' अर्थात प्राणी-मात्रके लिए क्षेमंकरी है। उसका विषय केवल मनुष्य ही नहीं। हां, यह माना जा सकता है—सामाजिक प्राणीके लिए यह एक आवश्यक और अनिवार्य हिंसा है। अस्तु—आवश्यक हिंसा के विषयमें हम प्रथम प्रकरणमें ही पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं कि वह धर्म नहीं। अतः यहां पिष्टपेषणकी आवश्यकता नहीं।

कूप-निर्माणकी तरह हिंसासाध्य अन्यान्य सार्वजनिक कार्य्यों में भी उनका यही दृष्टिकोण था। उन्होंने बताया—लोक-उपकार की दृष्टिसे इन्हें लोक-व्यवहार, लोक-कर्तव्य या समाज-धर्म भी यदि माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं। पर जीवमात्रकी समानताका सिद्धान्त जहां अक्षुण्ण नहीं है, उन कार्योंमें पार-लौकिक धर्म, आत्म-धर्म या मोक्ष-धर्म मैं नहीं मान सकता।

इस विषयमें महात्मा गांधीका क्या दृष्टिकोण था, यह जाननेके लिए कोई स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध नहीं हो पाया है। तथापि उनकी इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली स्फुट सामग्री पर्याप्तरूपसे मिल रही है।

जहां तक मैं सोचता हूं, 'आवश्यक हिंसा' और 'गांधीजी एक समस्या' शीर्षक दो प्रकरणोंमें धर्म और अहिंसा विषयक जो महात्माजीके विचार उद्धृत किये गये हैं, उनसे इस प्रसंग पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ जाता है। वस्तुतः तो 'मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म' नामक यह चालू प्रकरण उन प्रकरणोंके अन्तर्गत ही आ जाता है तथापि अधिकांश जनता इसे एक मौलिक

समस्या मानती है अतः इसे एक स्वतन्त्र प्रकरण मानकर ही विवेचन करना आवश्यक समझागया है।

प्लेगके चूहोंकी हिंसा, कृषिकार्यमें होनेवाली हिंसा आवश्यक और अनिवार्य होते हुए भी जब गांधीवादके अनुसार हिंसा ही है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तो किसी भी कार्यमें होनेवाली हिंसा गांधीवादके अनुसार अहिंसा नहीं हो सकती।

यह भी बताया जा चुका है कि पृथ्वी, जल आदि पदार्थोंमें भी वे जीवत्वका विश्वास करते थे। तब यह स्वतः सिद्ध है कि इस विषयमें आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी दो मत नहीं हो सकते क्योंकि अहिंसामें दोनोंकी समान निष्ठा है।

स्वामी भिक्षुने जैसे कहा था—'सार्वजनिक कार्योंमें मानवका हित है पर प्राणीमात्रका नहीं। महात्मा गांधी भी अपने शब्दोंमें कहते हैं—"बन्दरको मार भगानेमें मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं यह हिंसा तीनों कालमें हिंसा ही गिनी जायगी। इसमें बन्दरके हित का विचार नहीं है किन्तु आश्रमके हितका विचार है।" और भी "किसान जो अनिवार्य जीवनाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसामें गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही हो पर अहिंसा तो निश्चय ही नहीं। किसानकी हिंसामें समाजका स्वार्थ छिपा हुआ है। अहिंसामें स्वार्थको स्थान नहीं" आदि।

कितना सुन्दर समन्वय है। इससे भी जब हम आगे बढ़ते हैं तो जैसे आचार्य भिक्षने बताया—इन समाज-व्यवस्थाके कार्यों

में अध्यात्म-धर्म न मानकर यदि समाज-धर्म (कर्तव्य) मानें तो कोई आपत्ति नहीं। गहराईमें जानेसे यही बात हमें गांधीवाद में मिलती है महात्माजी के निम्नोक्त वाक्यों पर पाठक ध्यान दें। वे कहते हैं—

"वन्दरोंके मारनेमें जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।"

"मछली और मांस खानेवालेको ये चीजें खाने देनेमें जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नहीं मानता, मैं उसे अपना धर्म समझता हूं।"

"अहिंसाके नामपर फसलको उजड़ने देना मैं तो पाप समझता हूं।"

हर स्थितिमें हिंसाको हिंसा मानते हुए उपरोक्त कार्योंमें धर्म का प्रतिपादन करना इसी बातको सूचित करता है कि मानव-समाजकी दृष्टिसे ये कार्य आवश्यक हैं, कर्तव्य हैं। इसीलिए इन्हें धर्म कहा गया है। अतः उनको दृष्टिसे यह समाज-धर्म है, न कि वह मोक्ष-धर्म। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि उनकी तत्त्वदृष्टिमें धर्मका ही दूसरा नाम अहिंसा है। अतः यह स्वतःसिद्ध है, हिंसा मानते हुए जहां कहीं उन्होंने धर्म होनेका विधान किया है, वह केवल सामाजिक कर्तव्यकी अपेक्षासे है।

इत्यादि बहुतसे प्रसंगोंके मननके बाद इस निर्णय पर पहुंचा जा सकता है कि महात्माजीने धर्म शब्दका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थमें किया है। उनका धर्म आध्यात्मिक उन्नति और भौतिक इन दोनोंका साधक है, उन्होंने विशुद्ध अहिंसा और आवश्यक-

हिंसा इन दोनोंको व्यापक धर्म-शब्दमें स्थान दिया है, पर तत्त्व-विवेचनामें उनका धर्म दो भागोंमें विभक्त हो जाता है—पहला आध्यात्मिक धर्म वा मोक्ष-धर्म, दूसरा समाज-धर्म। ऐसा मानने से ही "हिंसा तीन कालमें हिंसा ही रहेगी" उनकी यह श्रद्धा अविचल रह सकती है।

इस भेद-कल्पनाके विषयमें गांधीवादके अधिकारी ज्ञाताओं के भी बहुतसे समर्थन उपलब्ध होते हैं। अतः उनकी ओर भी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना मैं आवश्यक समझता हूं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय अपनी 'स्वतन्त्रताकी ओर' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रन्थोंमें धर्मके दो विभाग माने गये हैं—मोक्ष-धर्म और व्यवहार या संसार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभागको मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था, समाजोन्नति-सम्बन्धी सांसारिक विभागको संसार-धर्म कहा गया है। लोग जो धर्मके नामसे चिढ़ उठते है, उनका कारण यह है कि मोक्ष-धर्म और खासकर उसकी ऊपरी बातों पर इतना जोर दिया गया कि जिससे अनेकांशमें ढोंग रह गया और दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय धर्मकी इतनी उपेक्षा की गई कि जिससे दोनों अंगोंमें समतोलता और सामञ्जस्य बिगड़ गया। व्यावहारिक अथवा सांसारिक और आत्मिक या पारलौकिक जीवन मनुष्यका हरएक दूसरेसे इतना मिला हुआ है, इतना एक दूसरे पर अवलम्बित है कि किसी एककी उपेक्षा दूसरेका सत्यानाश है। मोक्ष-धर्म और उनके बाह्य अंगोंपर

जोर देनेका परिणाम यह हुआ कि लोग प्रत्यक्ष जीवनसे घनिष्ट संबध रखनेवाली बातोंसे उदासीन हो गये, पुरुषार्थी-जीवन कोरा भाग्यवादी बन गया। भारत आज अपने तमाम अच्छे संस्कारोंके होते हुए भी गुलाम बना हुआ है। इसी तरह अब केवल लौकिक, सामाजिक, व्यावहारिक या सांसारिक बातोंको ही महत्त्व देकर जीवनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आत्मिक अंगकी उपेक्षा की तो इसका परिणाम और भी भयंकर होनेकी संभावना है।"

(स्वतन्त्रता की ओर पृष्ठ ११७, ११८)

मोक्ष-धर्म और समाज धर्मका कितना स्पष्ट विवेचन किया गया है। यहां यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि समाज-व्यवस्था और समाजोन्नति सम्बन्धी सांसारिक कार्य पारलौकिक उन्नतिके साधन नहीं हैं कूप, धर्मशाला, औषधालय, विद्यालय आदिके निर्माणमें जो आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण था, वही मानो दुहराया गया है। सामाजिक और धार्मिक जीवनके दोनों पलड़ोंके सन्तुलन और असन्तुलनके परिणामका विवेचन भी मनन करने योग्य है। आचार्य भिक्षुने जिस प्रकार दान, दया, सेवा, उपकार आदि अनेकों प्रसंगोंका आध्यात्मिक और लौकिक दो दृष्टिकोणोंसे प्रतिपादन किया था; श्री हरिभाऊ उपाध्या ने भी उपरोक्त प्रसंगोंके अतिरिक्त और कई प्रसंगोंमें उन्हीं दो दृष्टिकोणों से विवेचन किया है। चालू प्रसंगको स्पष्ट करनेके लिए उनका भी कुछ विवरण दे देना आवश्यक है।

सुखका स्वरूप बतलाते हुए वे लिखते हैं।

"यदि हम मनुष्योंसे पूछें कि तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे जीवन का क्या उद्देश्य है, तो तरह तरहके उत्तर मिलेंगे। धन, वैभव, राज्य पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान इनमेंसे कईएक लक्ष्य वे अपना बतायेंगे। मनुष्य संसारमें या जीवनमें जो कुछ करता है, वह इन्हींसे प्रेरित होकर करता है। विचार करनेसे वे सब लक्ष्य वा उद्देश्य दो भागोंमें बंट जाते हैं—शारीरिक, भौतिक, ऐहिक तथा मानसिक, पारमार्थिक या आध्यात्मिक। धनसे लेकर पद-प्रतिष्ठा तकके उद्देश्य भौतिक व मुक्तिसे लेकर ज्ञान तकके विषय आध्यात्मिक कोटिमें आते हैं। यदि मनुष्य जीवनके भिन्न भिन्न उद्देश्योंके लिए किसी एक ही सर्वसामान्य शब्दका प्रयोग करना चाहें तो 'सुख' कह सकते हैं।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २६४)

भौतिक और आध्यात्मिक सुखका कितना सुन्दर वर्गीकरण किया गया है। सुखके दो रूप मानते हुए भी दोनोंका समावेश जिसप्रकार यहां सुख शब्दकी व्यापकतामें कर दिया है, ठीक उसी तरह धर्मके भी लौकिक और पारलौकिक दो भेद मानते हुए दोनों भेदोंको व्यापक धर्म शब्दमें अन्तर्निहित कर लिया गया। यही कारण है कि धर्मकी परिभाषा वे इन शब्दोंमें करते हैं:—

"जिससे लोक, परलोक दोनों सधे, वह धर्म है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९३)

साथ-साथ स्पष्ट व्याख्या भी करते हैं:—

"इस व्याख्यामें धर्म-तत्त्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, स्वास्थ्य-

साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सबका समावेश हो जाता है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९३)

यहां भी वास्तविक धर्म तत्त्वसे स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज सम्बन्धी नियमोंको अलग कर दिया गया है। धर्म शब्दकी व्यापकताका विवेचन करते हुए और भी लिखते हैं :—

"एक धर्म वह जो परम सत्य तक पहूंचनेका साधन है, जैसे—प्राणीमात्रके प्रति आत्मभाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदिका पालन।"

"एक धर्म है, कर्तव्य—जैसे माता पिताकी सेवा करना पुत्रका धर्म है, पडोसीकी और दीन-दुःखियोंकी सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्यका धर्म है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९२)

आचार्य भिक्षु और गांधीवादी श्रीहरिभाऊ उपाध्यायके विचार कितने एक दूसरेमें ओतप्रोत हो जाते हैं। दोनोंके ही विचारोंसे परम सत्यका साधक धर्म अहिंसा आदि तथ्य ही हैं, अतिरिक्त इनके माता-पिता और दीन-दुःखियोंकी सेवा तो कर्तव्य कहा जानेवाला धर्म है।

इस विषयमें सुमति-शिक्षा-सदन राणावासके मन्त्री श्री मिश्रीमलजी सुराणा द्वारा एक लिखित विवरण मिला, जो इस प्रसंग पर पूरा पूरा प्रकाश डालता है। अतः पाठकोंकी जानकारी के लिए उसे हम उद्धृत कर रहे हैं :—

"मेरे और सुमति-शिक्षा सदनके प्रधानाध्यापक श्रीदया
गहलोतके बहुधा यह विवाद चला करता था कि कूप, वापीका
औषधालय, विद्यालय, सदाव्रतशाला आदि लोकोपकारी क
संपादन, समाजोन्नति और देशोन्नतिके और भी जो इस प्रका
है, वे हमारी मुक्तिके साधन हैं या नहीं अर्थात् इनमें आध्या
है या नहीं। उनका यह विश्वास था कि इन परोपकारोंसे
आत्मा कर्ममुक्त हो सकती है और मेरा विश्वास सर्वथा इसके
था। इस विषयका निर्णय पानेके लिए हम वि० सं० १
भाद्रवी अमावस्याको सेवाग्राम पूज्य महात्मा गांधीके पास पहुं
श्री महादेव भाई देसाईसे भेंट होने पर उन्होंने बताया कि म
आज कार्य-व्यस्त हैं अतः उनसे बातचीत न हो सकेगी। आप
आनेका प्रयोजन मुझे कहें। आनेका कारण बताते हुए मैंने
अच्छा हो आप ही हमारे विवादग्रस्त प्रश्नके विषयमें कुछ कहें
ओरसे सहर्ष अनुमति होनेके बाद मैंने पूर्वोक्त प्रश्नके साथ-सा
ओरसे उसकी पुष्टिके लिए जैन ज्ञातासूत्रमें वर्णित नन्दन म
वर्णन भी निम्नोक्त प्रकासे उन्हें सुनाया—

राजगृह नगरमें नन्दन मणियारा नामक धनाढ्य श्रे
भगवान् श्री महावीरके संपर्कमें आकर वह उनका उपासक बन
पौषध, उपवास आदि करता हुआ विरक्त जीवन बिता
एकबार समस्त आहार-पानीके परित्याग रूप तीन दिनकी तप
तीसरी रातमें वह क्षुधाक्लान्त और तृपातुर होकर सोचने
क्या करता हूं ? ...

हैं, दानशाला बनाते हैं और अगणित लोगोंको सुख-शान्ति प्रदान करते हैं अतः प्रातःकालसे मैं भी इन्हीं कार्योंमें प्रवृत्ति करूंगा। तदनन्तर उसने एक सुरम्य 'नन्दा' पुष्करणी बनवाई। उसके चारों दिशाओंमें चार बाग लगवाये। चारों बागोंमें चार शालाएं बनवाईं। पूर्व दिशिके बागमें चित्रशाला (नाट्यशाला) थी, जहां सर्वसाधारणको मनोहर चित्र और नाट्य देखनेको मिलते थे। दक्षिण दिशिमें दान-शाला थी, जहां दीन अनाथ अपंगोंको मनोज्ञ भोजन दिया जाता था। पश्चिम दिशामें आरोग्यशाला थी। वहां कुशल वैद्य सर्वसाधारणकी चिकित्सा करते थे। उत्तर दिशिमें अलङ्कारशाला थी, जहां सर्व-साधारणके लिए स्नान, तेल-मर्दन, हजामत आदिकी व्यवस्था थी। सहस्रों स्त्री-पुरुष रात-दिन वहां सुख शांति पाते थे।

भगवान् श्री महावीरके कथनानुसार नन्दनकी पहली पोषध उपवास आदिकी साधना आध्यात्मिक थी। दूसरी प्रवृत्तिसे आत्मोत्थान का कोई सम्बन्ध नहीं, वह केवल सांसारिक प्रवृत्ति थी, मोक्ष-साधना में वह किसीप्रकार साधक नहीं हो सकती। मेरा भी इसी मान्यतामें विश्वास है। अब आप अपनी सम्मति प्रगट करें।

मेरे इतना कह देनेके बाद दयालसिंहजीने अपना मन्तव्य सुनाया और उन्हें निर्णय देनेके लिए अनुरोध किया।

तत्पश्चात् श्रीमहादेव देसाईने इन शब्दोंमें अपना मत प्रकट किया—

"भगवान् श्रीमहावीरकी वाणी अक्षरशः सत्य है—लौकिक उप-कारोंमें आत्मोत्थान कदापि संभव नहीं। लोगोंको भौतिक सुख-

सुविधाएं जुटा देनेसे आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। किन्तु श्री महवींरके आदेशानुसार अपने जीवनको संयमी बनाना और दूसरों के जीवनको भी संयमी बनानेका प्रयत्न करना ही आत्मोत्थानके पथपर अग्रसर होना है। नन्दन मणियारेने जो कार्य किया, वह सांसारिक ही था, आध्यात्मिक नहीं। आध्यात्मिकतासे उसका सम्बन्ध ही क्या हो सकता है?"

पुन: मैंने प्रश्न किया—पौद्गलिक (भौतिक) शान्तिसे आत्मोत्थान हो सकता है या नहीं?

उन्होंने उत्तर दिया—"भौतिक शान्तिसे क्षणिक सुखानुभव हो सकता है किन्तु आत्मिक शान्ति नहीं। भौतिक शान्तिमें 'आत्म-धर्म' नहीं, व्यावहारिक धर्म है।"

इसप्रकार पूर्ण समाधान होनेके बाद सायंकाल महात्माजीके दर्शन कर हम दोनों अपने गांव आये।"

जहां तक मैं सोचता हूं, गंभीर विचारकोंकी दृष्टिमें यह प्रश्न कोई अधिक महत्त्व नहीं रखता और न इतना विस्तृत विवेचन जितना कि किया गया है, आवश्यक है। क्योंकि बहुतसे अध्यात्म-तत्त्ववेत्ता यह मानते हैं कि अध्यात्मवादकी गहराईमें उतरने पर उपरोक्त सिद्धान्तका अनुसरण करना ही पड़ेगा। लोक-धर्म और मोक्ष-धर्मके बीच एक स्पष्ट भेद-रेखा खींचनी ही होगी। तथापि साधारण जनताके किसीप्रकारसे जो एकबार संस्कार पड़ जाते हैं, वे जल्दीसे बदलते नहीं। यही कारण है कि लाखों मनुष्योंके हृदयमें मोक्ष-धर्म और समाज-धर्मका आज

उलझा हुआ प्रश्न है। इसी लोक-भावनाको ध्यानमें रखते हुए यहां विस्तृत विवेचनका आयास किया गया है।

आचार्य भिक्षुके जीवन-कालमें यह एक प्रमुख विषय रहा है; लाखों व्यक्तियोंके विरोधमें भी उन्होंने अपने मन्तव्यका किस तरह निर्भीक शब्दोंमें विवेचन किया, मैं सोचता हूं यह अधिक आकर्षक होगा कि यह विवेचन आप उन्हींके शब्दोंमें पढ़ें—

ज्ञान दर्शन चारित्र तप विना,
और मुक्ति रो नहीं उपाय।
छोड़ा मेल्हा उपकार संसारना,
तेथी सिद्ध-गति किणविध थाय॥"
(अनुकम्पा चतुर्थ गीति १७ वीं गाथा)

भावार्थ—ज्ञान, तत्त्वश्रद्धा, चारित्र और तपके अतिरिक्त मुक्त होनेका उपाय दूसरा नहीं है। अन्य सारे झंझट संसारके हैं। उनसे सिद्धगति नहीं मिल सकती।

इसीप्रकार मुक्ति और संसारके मार्गकी पृथकृता बतलाते हुए 'अनुकम्पा' ग्रन्थकी अष्टम गीतिमें लिखते हैं।

"द्रव्य लाय लागी न भाव लाय लागी,
द्रव्य कूवो नै भावे कूवो।
भेद न जाणें मूढ़ मिथ्याती,
संसार नै मुगत रो मारग जूवो॥
कोई द्रव्य लाय सूं वलता नै राखै,
द्रव्य कूवै पड़ता न झाल बचायो।

ए तो उपकार कियो इण भव रो,
विवेक-विकल त्यां नैं खबर न कायो ॥
घट में ज्ञान घालिनैं त्यां नैं पाप पचखावे,
पड़तो राख्यो भव-कूवा मांयो।
भावे लाय वलतानैं काढ़ै ऋषीश्वर,
ते पिण गहिला भेद न पायो ॥"

भावर्थ—अग्निदाह दो प्रकारका होता है—एक द्रव्य अग्नि-दाह और दूसरा भाव-अग्नि-दाह। कूप भी दो प्रकारके होते हैं—एक द्रव्य-कूप, दूसरा भाव-कूप। अज्ञ पुरुष इस रहस्यको नहीं जानते—संसार और मुक्तिका मार्ग पृथक् पृथक् है।

अग्निमें पड़ते हुए प्राणीको किसीने बचाया और किसीने कूपमें पड़ते हुए की रक्षा की यह लौकिक उपकार है।

किसीने उपदेश द्वारा घटमें ज्ञान फैलाकर किसी व्यक्तिको हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य आदिका त्याग करा दिया अर्थात् उसे पाप-कूपमें गिरनेसे बचा दिया अथवा किसी ऋषिने किसी व्यक्ति को जन्म-मरणके अग्नि दाहसे बचा लिया—यह पारलौकिक उपकार है। सर्व साधारण इस रहस्यको नहीं समझ सकते।

यहां दृश्य-अग्नि और दृश्य-कूपको द्रव्यके विशेषणसे माना गया है और आत्मपतन व आत्मगुणोंके दहनको भाव-कूप एवं भाव-अग्नि माना गया हैं।

उसी ग्रन्थकी ग्यारहवीं गीतिमें उपकारकी द्विविधता बतलाते हुए कहते हैं—

"कोई दरिद्री जीव नें धनवन्त करदें,
नव जात रो परिग्रह देई भरपूर।
वलि विविध प्रकारे साता उपजावें,
जावक दारिद्र कर दियो दूर॥
ओ उपकार संसार रो जाणो।"

किसी निर्धन व्यक्तिको धन, धान्य आदिसे सम्पन्न कर दिया और सब प्रकारकी सुख-सामग्री जुटा कर उसे सुखी बना दिया। यह उपकार सांसारिक है।

किण रें तृष्णा लाय लागी घट भीतर,
ज्ञानादिक गुण बलें त्यां मांही।
उपदेश देई तिणरी लाय वुझावें,
समय-समय साता दीधी वपराई॥

दूसरा पक्ष यह है कि किसीके हृदयमें तृष्णाकी होली जल रही है। उपदेश सलिलसे किसीने वह शान्त कर दी। अब वह क्षण-क्षणमें सुखका अनुभव करता है। यह उपकार निश्चय ही मुक्तिका है। इसप्रकारके फल दोनों लोकोंके लिए मीठे हैं।

कोई मात पिता री सेवा करें दिन-रात
वले मनमान्या भोजन त्यांनें खवावें।
वले कावड़ कांधे लिया फिरें त्यांनें,
वलि विहुं टंक स्नान करावें।
ओ उपकार संसार तणो छै॥
कोई मात-पिता नें रूड़ी रूड़ी रीते,

भिन्न-भिन्न कर नैं धर्म सुणावैं।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र पमावैं,
भोग शब्दादि सर्व छुड़ावैं।
ओ तो उपकार निश्चय ही मुगत रो॥

भावार्थ—एक व्यक्ति माता-पिताकी दिनरात सेवा करता है। उन्हें मनोवाञ्छित भोजन कराता है, दोनों समय स्नान कराता है, और आवश्यकता होने पर उन्हें वहंगी (कावड़) में बिठाकर कन्धे पर लिये फिरता है, यह सांसारिक सेवा है।

कोई व्यक्ति माता-पिताको विविध प्रकारसे धर्म तत्त्व समझाता है। शब्द, गन्ध, रस आदिसे विरक्ति पैदा कर उनके हृदयमें ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी लौ जलाता है, यह निश्चितरूप से मोक्षका साधन है।

उपरोक्त विवेचनसे कोई यह तत्त्व न निकाल ले कि आचार्य भिक्षुने लोकोपकारका निषेध किया है। उनकी तो यह तत्त्व-विवेचना है। वैसे तो सामाजिक प्राणीको लौकिक और पारलौकिक दोनों ही काम करने पड़ते हैं। यदि ऐसा न हो तो जैसे श्रीहरिभाऊ उपाध्यायने बताया—सामाजिक स्थिति व्यवस्थित नहीं रह सकती। दोनोंमेंसे एककी भी सामूहिक उपेक्षा समाज-व्यवस्थाको अस्त-व्यस्त कर सकती है

आचार्य भिक्षुने उपकारकी तरह अन्यान्य बहुतसे विषयोंको भी आध्यात्मिक और व्यावहारिक दो दृष्टिकोणोंसे हल किया था। उनका इस समस्याको हल करनेवाला गुर इतनेसे शब्दोंमें कहा

जा सकता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि आत्मगुणोंका विकास करनेवाले कार्य आध्यात्मिक हैं—पारलौकिक हैं। शेष समाजोन्नति, समाज-व्यवस्थाके नियम व्यावहारिक हैं न कि पारमार्थिक।

इस विषय पर यदि ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से सोचते हैं तो स्वतः भान होता है कि यह एक अपूर्ण समाज-व्यवस्थाका फल है कि समाजकी एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता धर्म के नामसे धन बटोरकर पूरी करनेका प्रयत्न किया जाता है। समाज-प्रणेताओंकी यह महती भूल थी, जब कि उन्होंने विभिन्न विधान बनाये ताकि समस्त सामाजिक प्राणी अपने विधानानुकूल जीयें, जीवनकी कितनीक समस्याओंके लिए पारिवारिक सम्बन्धों की रचना की, कितनेक कार्यों के लिए अलग अलग जातियां और पंचायतें बनाई गई, कितनेक कार्य राजसत्ताके हस्तगत किये गये, किन्तु अनाथ, दीन, अपंगोंके लिए किसीको उत्तरदायी नहीं बनाया। उनकी जिम्मेदारी न किसी समाज पर थी, न राज्य पर। इसी तरह शिक्षाके सामूहिक विकासके लिए कोई महत्त्व-पूर्ण विधान-धारा नहीं थी। विधानकी अपूर्णता आगे चलकर सामाजिक जीवनमें जब बाधा उपस्थित करने लगी, तब तात्कालिक समाज-प्रणेताओंने दान-धमकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या बना डाली। बड़े २ धनी, मानी धनके सस्ते सौदेमें धर्मको खरीदने लगे। उपरोक्त दोनों समस्यायें जैसे-तैसे सुलझ गई।

आजका बुद्धिवादी मानव इस प्रकारकी समाज-व्यवस्था

को मानवताका एक अपमान समझता है, जिसमें मनुष्योंके सहज अधिकार धनियोंके करुणाभावमें अन्तर्निहित कर दिये गये हैं। इसकी दृष्टिमें समाज-प्रणेताओंकी यह भूल थी। अनेक युग बीते, अनेकों सदियां और सहस्राब्दियां बीतीं पर यह भूल ज्यों की त्यों चलती रही। इस युगमें जबकि इधर उस दानप्रथा का दुष्परिणाम भिखमंगी और अकर्मण्यताके रूपमें सामने आया, इधर जब समाज-व्यवस्थाके अन्यान्य सारे अंगोंके शिथिल हो जानेके कारण सारा समाजका कार्य-भार राजसत्ताने अपने हाथों में लिया, तबसे इस भूलके सुधरनेका समय आया। इसीका परिणाम है कि बहुतसे राष्ट्रोंमें आज भिक्षानिरोधक नियम बनते जा रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य आदिके विकासके लिए सर्वत्र राजकीय, विद्यालय, चिकित्सालय, बनते जा रहे हैं। संभवतः निकट भविष्यमें धनियोंको वह दानधर्म धनके सौदेमें न मिले।

राष्ट्रीयकरणकी जिस दिशामें आज संसार बहता नजर आ रहा है, रूस सबसे आगे है, जहां कोई दानजीवी नहीं, न कोई दानवीर। समाज-व्यवस्थाके पूर्ण नियम ही सामाजिक जीवन की सारी समस्याओंको हल करते हैं।

कूप, पाठशाला, चिकित्सालयके अतिरिक्त और आज बहुत सी सार्वजनिक आवश्यकताएँ हैं, जैसे सर्वत्र गांवों और शहरोंके मार्गों पर बिजलीकी व्यवस्था, सड़कोंकी व्यवस्था आदि। यदि कूप आदि धर्मके अंग माने जाते हैं, इन सब कार्योंको भी जो राज-सत्ता द्वारा यथासंभव किये जा रहे हैं, धर्मका अंग समझना

होगा। समस्या होगी तो केवल यही कि इस धर्मका भागी कौन ?

तात्पर्य केवल इतना ही रह जाता है कि ये सब सामाजिक कार्य पूर्वकालमें बहुधा दानधर्मके आधार पर व्यष्टिरूपमें संपादित किये जाते थे और आज विशिष्ट करों द्वारा जनताका धन लेकर जनताके (राजसत्ताके) द्वारा समष्टिरूपसे किये जाते हैं। यह केवल व्यवस्था-भेद है। धर्मका अंग न ये कार्य आज हैं, न पहले होने चाहिए थे।

कई भारतीय धर्मोंने धर्मको व्यापक मानकर मनुष्यके जन्म से मृत्यु तकके सारे संस्कारोंको और भौतिक आवश्यकतापूर्तिको धर्मका ही रूप दे दिया था। पर आज निर्माणकी वेलामें उसके फलित कटु ही नजर आते हैं। आजका बुद्धिवादी वर्ग जब-जब सामयिक सामाजिक परिवर्तनकी सोचता है, तब-तब दूसरा वर्ग उसे धर्ममें हस्तक्षेप समझता है और इसका विरोध करता है। इस तरह सामाजिकता और धार्मिकताको एक मानलेनेसे दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील बन गये। यही कारण है कि आज सामाजिक व्यवहारमें कितने अन्ध - विश्वास, कितनी रूढ़ियां भरी पड़ी हैं। उनका दूर होना दुःसाध्य हो रहा है क्योंकि वे धर्मके अंग हैं।

अनन्तरोक्त विवेचनको हम इन शब्दोंमें दुहरा सकते हैं—राजनीतिसे जिस तरह धर्मको पृथक् किया गया है, उसी तरह सामाजिकतासे भी जब धर्म पृथक् माना जायगा, तभी सामा-

जिकता और धार्मिकता दोनों विशुद्ध और विकासोन्मुख होंगी।

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म सर्वसाधारणमें जिस प्रकार आत्म-धर्म ही माने जा रहे हैं, इसका प्रमुख कारण यही है कि प्राचीन विवेचकोंने धर्म-शब्दको अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किया। धर्म-शब्द संस्कृतकी 'धृन् धारणे' धातुसे बना है, इसीलिए कहा जाता है 'धारणात् धर्म उच्यते।' अधिकांशतः कर्तव्यमात्रके लिए धर्म-शब्दका प्रयोग होता आ रहा है, चाहे वह कर्तव्य ऐहिक वा पारमार्थिक कुछ भी हो।

भगवान् महावीरने दश प्रकारके धर्म बतलाये :—

१ *ग्राम-धर्म*
२ *नगर-धर्म*
३ *राष्ट्र-धर्म*
४ *पाखण्ड-धर्म*
५ *कुल-धर्म*
६ *गण-धर्म*
७ *संघ-धर्म*
८ *श्रुत-धर्म*
९ *चारित्र-धर्म*
१० *अस्तिकाय-धर्म*

इस भेद-कल्पनासे स्वयमेव स्पष्ट होता है कि श्रुत-धर्म तथा चारित्र-धर्म तो मोक्ष-धर्म, शेष विभिन्न अपेक्षापरक।

सर्वसाधारणने सर्वप्रथम आत्म-सिद्धिके अर्थका द्योतक ही

स्यात् 'धर्म-शब्द' माना हो। पश्चात् जब मनीषियोंने विभिन्न अर्थोंमें धर्म-शब्दका प्रयोग किया, वह उनके हृदयङ्गम न हो सका हो। हो सकता है, इसीकारणसे सर्वसाधारणने धर्म-शब्द से अभिहित तत्त्वको मोक्ष-साधक ही माना।

मोक्ष-तत्त्व और समाज-तत्त्वकी एकात्मकतासे क्या-क्या बुराइयां उत्पन्न हुईं, इस विषयमें कुछ विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठोंमें किया जा चुका है। विचारकजन धर्म-शब्दकी व्यापकताको समझते हुए विभिन्न यथार्थताओंको हृदयङ्गम कर सकते हैं और तदनुकूल प्रवृत्त हो सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारणसे ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता।

यथार्थमें धर्म-शब्दका व्यापक प्रयोग ही विभिन्न उलझनों और समस्याओंको उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होता है। विचार-शील व्यक्तियोंने धर्म-शब्दका विविध प्रकारसे मन्थन किया है। गीताके असाधारण व्याख्याता लोकमान्य तिलकने इस विषयमें बड़ा सजीव विवेचन किया है। वे लिखते हैं :—

* नित्य व्यवहारमें धर्म शब्दका उपयोग केवल 'पारलौकिक सुख का मार्ग' इसी अर्थमें किया जाता है। जब हम किसीसे प्रश्न करते हैं कि 'तेरा कौनसा धर्म है ?" तब उससे हमारे पूछनेका यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याणके लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी—से चलता है; और वह हमारे प्रश्नके अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति

* गीता रहस्य पृष्ठ ६४-६७

के लिए साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयोंकी मीमांसा करते "अथातो धर्म-जिज्ञासा" आदि धर्मसूत्रोंमें भी धर्म-शब्दका यही अर्थ लिया गया है। परन्तु 'धर्म' शब्दका इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राज-धर्म, प्रजा-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, मित्र-धर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनोंको भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म-शब्दके इन दो अर्थोंको यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्मको 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीतिको केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषार्थोंकी गणना करते समय हमलोग "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष" कहा करते हैं। इसके पहले शब्द धर्ममें ही यदि मोक्षका समावेश हो जाता तो अन्तमें मोक्षको पृथक् पुरुषार्थ बतलानेकी आवश्यकता न रहती; अर्थात् यह कहना पड़ता कि 'धर्म' पदसे इस स्थान पर संसारके सैकड़ों नीति-धर्म ही शास्त्रकारोंको अभिप्रेत हैं। इन्हींको हमलोग आजकल कर्तव्य कर्म, नीति, नीति-धर्म अथवा सदाचरण कहते हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंमें 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दोंका उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिए किया जाता है, इसलिए पुराने जमानेमें कर्तव्य कर्म अथवा सदाचारके विवेचनको 'नीति-प्रवचन' न कहकर 'धर्म-प्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दोंका यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रन्थोंमें नहीं माना गया है। इसलिए हमने भी इस ग्रन्थमें 'नीति, कर्तव्य और धर्म' शब्दका उपयोग एक ही अर्थमें किया है; और मोक्ष का विचार जिस स्थान पर करना है, उस प्रकरणके 'अध्यात्म' और

'भक्तिमार्ग' ये स्वतन्त्र नाम रखे हैं। महाभारतमें धर्म-शब्द अनेक स्थानोंमें आया है; और जिस स्थानमें कहा गया है कि "किसीको कोई काम करना धर्मसंगत है" उस स्थानमें धर्म-शब्दसे कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थानमें पारलौकिक कल्याणके मार्ग बतलानेका प्रसंग आया है उस स्थान पर, अर्थात् शान्ति-पर्वके उत्तरार्धमें 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्दकी योजना कीगई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके विशिष्ट कर्मों, अर्थात् चारों वर्णोंके कर्मोंका वर्णन करते समय केवल धर्म-शब्दका ही अनेक स्थानों पर उपयोग किया गया है (और भगवद्गीतामें भी जब भगवान् अर्जुनसे यह कहकर लड़नेके लिए कहते हैं कि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (गी० २-३१) तब, और इसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:" (गी० ३-३५) इस स्थान पर भी, 'धर्म' शब्द "इस लोक के—चातुर्वर्ण्यके धर्म" के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमानेके ऋषियोंने श्रम-विभाग-रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए चलाई थी कि समाजके सब व्यवहार सरलतासे होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाजका सभी दिशाओंसे संरक्षण और पोषण भली-भांति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय समयके बाद चारों वर्णोंके लोग केवल जाति-मात्रोपजीवी हो गये, अर्थात् सच्चे स्वकर्मको भूलकर वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भमें यह व्यवस्था समाज-धारणार्थ ही की गई थी; और यदि

चारों वर्णों में से कोई भी कर्तव्य छोड़ दे; अथवा यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थान-पूर्ति दूसरे लोगोंसे न की जाय तो कुल समाज उतना ही पंगु होकर धीरे-धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्थामें तो अवश्य ही पहुंच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोपमें ऐसे अनेक समाज हैं, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यस्था चाहे न हो, परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म; ज्ञाति रूपसे नहीं तो कुल-विभाग रूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म-शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टिसे करते हैं तब हम यही देखा करते हैं, कि सब समाजका धारण और पोषण कैसे होता है? मनुने कहा है—'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका परिणाम दुःख-होता है, उस धर्मको छोड़ देना चाहिए (मनु० ४-१७६) और शान्ति-पर्वके सत्यानृताध्याय (शां० प० १०९-११०) में धर्म-अधर्मका विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्ण-पर्वमें भी श्री कृष्ण कहते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं, स धर्म इति निश्चयः ॥

धर्म-शब्द धृ (=धारण करना) धातुसे बना है धर्मसे सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है वही धर्म है। (म० भा० कर्ण पर्व ६९-५९)

यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाजके सारे बंधन भी टूट गये; और यदि समाजके बन्धन टूटे, तो आकर्षणशक्ति के बिना आकाशमें सूर्यादि ग्रहमालाओंकी जो दशा होती है; अथवा

समुद्रमें मल्लाहके विना नावकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाजकी भी हो जाती है।"

अस्तु—ऐसे विवेचनोंको हृदयङ्गम कर लेनेके पश्चात् सुधी जनोंके लिए मोक्ष-तत्त्व और समाज-तत्त्व कोई समस्या नहीं रह जाते। किन्तु कोटि-कोटि अशिक्षित जनोंके पास ऐसे विवेचन कब पहुंचते हैं। कारण-परम्परासे उनतक तो 'यही धर्म' 'वही धर्म' बस इतना ही तत्त्व पहुंच पाता है। धर्मके प्रति नैसर्गिक रुचि होनेके कारण वे उससे पूरी तरह चिपट जाते हैं। परिणाम यह होता है—आजके जड़वादी वातावरणमें आधिभौतिक धर्म ही उनका ध्येय बन जाता है। सामाजिक जीवनमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक धर्मका सन्तुलन विगड़ जाता है। निःश्रेयस-प्राप्तिका मौलिक लक्ष्य जीवन-व्यवहारसे लुप्त हो जाता है और यही जीवनमें सबसे अधिक घाटेका सौदा है।

आज नव-निर्माणकी व्यापक वेला है। आजके विवेचक धर्म-शब्दका असन्दिग्ध प्रयोग करने लगें तो अगली पीढ़ीके लिए यह कोई उलझन नहीं रह जायेगी।

इस सम्बन्धमें कुछ मार्ग ये हैं—

यदि सामाजिक और आध्यात्मिक कर्तव्यमात्रको ही धर्म कहना चाहें तो समाज-धर्म और अध्यात्म-धर्म इन विशेषणयुक्त शब्दोंका व्यवहार करें। इससे भी सुन्दर मार्ग यह है—मोक्ष-धर्मके अर्थमें 'धर्म-शब्दका प्रयोग करें और शेष कार्योंको कर्तव्य संज्ञासे अभिहित करें।

आचार्य भिक्षु अपने विवेचनमें धर्म-शब्दका उपयोग मोक्ष-धर्मके अर्थमें ही किया करते थे। अन्य अर्थमें यदि धर्म-शब्दका व्यवहार करते तो उसके साथ पृथक्ताका द्योतक कोई सुस्पष्ट विशेषण जोड़ देते थे। महात्माजी बहुधा व्यापक अर्थमें धर्म-शब्दका प्रयोग करते थे। किन्तु दोनोंकी दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं था। यह 'गांधीजी एक समस्या' व प्रस्तुत प्रकरणमें स्पष्ट किया जा चुका है।

अस्तु—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीकी एतद्विषयक विचारधाराएँ लोकमान्य तिलककी विचार-सरणिका योग पाकर एक त्रिवेणी-संगम उपस्थित कर देती हैं।

बछड़ेका प्रसंग (१)

बछड़ेकी हत्याका प्रसंग भी महात्मा गांधीकी अहिंसाका एक अभिन्न अंश बन जाता है। यद्यपि इस पुस्तकका विषय केवल अहिंसा विषयक दो विचार-धाराओंका समन्वयात्मक विवेचन है, तथापि दोनों विचारधाराओंके किसी भी सन्दिग्ध स्थलको जबतक किसी निष्कर्ष पर न पहुंचाया जाय, तबतक समन्वय और असमन्वयके पहलू पर कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कोई तुलनात्मक निर्णय लिखने के पूर्व उक्त प्रसंगको हम अपने दृष्टिकोणसे देखलें।

घटना यह थी—एक बछड़ा अति रुग्ण अवस्थाको पहुंच गया था, उसको बचानेके सारे प्रयास विफल हो चुके थे। जब कि वह मरणासन्न दशामें तड़प रहा था, महात्माजीने उसे विष दिलवाकर मरवा दिया। महात्माजीके इस कार्यकी व्यापक

आलोचना हुई। आलोचकोंने भिन्न - भिन्न प्रकारसे उसकी व्याख्यायें कीं।

घनश्यामदासजी बिड़लाने इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"गांधीजी स्वयं जीवन्मुक्त दशामें, चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जा रहा हो, उसी घड़ीके लिए ही क्यों न हो अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे बछड़ेकी हिंसा, पर साधारण मनुष्यके लिए वह कार्य कौएके लिए हंसकी चाल है।"

अपने इस निर्णयकी पुष्टि उन्होंने गीताके निम्नोक्त श्लोक से की है :—

> "यस्य नाहंकृतो भावो, बद्धिर्यस्य न लिप्यति।
> हत्वापि स इमांल्लोकान्, न हन्ति न निवध्यते॥"

भावार्थ—जो निरहङ्कार है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह लोकोंकी हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता और न वह कर्मबद्ध होता है।

काका कालेलकर इस समाधानको उचित नहीं बताते हुए लिखते हैं :—

"मेरा खयाल है, इस घटनाका सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टिसे देखना चाहिए। जब बछड़ेकी हर तरहसे सेवा कर लेनेके बाद भी साफ दिखाई दिया कि वह बछड़ा बचनेवाला नहीं है और अब केवल मरणकी वेदनाका ही अनुभव कर रहा है, तब बापूजीने केवल शुद्ध दयाभावसे प्रेरित होकर उस बेचारेके दुःखका अन्त करनेका निश्चय

किया। उसकी वेदना चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था। मैंने राय दी—बछड़ेको मरण देना ही चाहिए।

किसीको मारना एक चीज है, मरण देना दूसरी चीज है। प्यासेको हम पीने के लिए पानी देते हैं, भूखोंको अन्न देते हैं, डरे हुओंको आश्वासन देते हैं और बीमारोंको दवा देते हैं। इसी तरह जिसे अन्तिम वेदनाएँ होती हैं, उसको उसके हितके लिए हम शान्ति और मरण देते हैं। मरण देकर हम उसे दुःखसे बचा सकते हैं। किसी प्राणीका देहान्त होना कोई बड़ा अनिष्ट है, ऐसा हम क्यों मानें? जैसे जीनेके लिए हम मदद करते हैं, वैसे ही मरण पानेमें मदद हो सकती है।"

श्री महादेव भाई देसाईने बिड़लाजीके कथनको लक्ष्य कर कहा था :—

"इस पर मैं दो बातें कहना चाहता हूं—बछड़ेकी हिंसा जीवन्मुक्त दशामें की गई हिंसाका उदाहरण है ही नहीं। थोड़े दिन पहले सेवाग्राममें एक पागल सियार आ गया था। उसे मारनेकी गांधीजीने आज्ञा दे दी थी और वे मारनेवाले कोई अनासक्त जीवन्मुक्त नहीं थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि कृषिकार्यमें कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। हिंसाके भी कई प्रकार हैं। बछड़ेकी हिंसाका दूसरा प्रकार है। घुड़दौड़में जिस घोड़ेका पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लग जाती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशुके लिए जीना एक यन्त्रणा होता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं। वे प्रेमसे, अद्वेषसे मारते हैं। पर वे मारनेवाले

अनासक्त या जीवनन्मुक्त नहीं होते। जिस हिंसाको गीताने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है। गांधीजी अपने को जीवन्मुक्त नहीं मानते और न वे और किसीको भी सम्पूर्ण जीवन्मुक्त माननेके लिए तैयार थे। सम्पूर्ण जीवन्मुक्त ईश्वर ही है और यह गांधीजीकी दृढ़ भावना है कि "हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते" वचन भी ईश्वरके लिए ही है।"

उपरोक्त सारी आलोचनाएं घटनाके अनन्तर ही हुई प्रतीत होती हैं। जिस समय महात्मा गांधी स्वयं विद्यमान थे, यह उनके जीवनकी पहली घटना थी। उससमय तक आलोचकोंके सामने यह भी एक आशंका थी, सम्भवतः महात्मा गांधी सिद्धान्ततया जिस बातको एक बार कर चुके हैं, सिद्धान्तवादी होनेके कारण फिर भी अपने जीवनमें करते रहेंगे। किन्तु आज जब कि महात्मा गांधीका जीवन-काल हमारे सामनेसे बीत चुका है, सम्भवतः वे ही आलोचक उस घटनाको एक दूसरे दृष्टिकोणसे देखें।

गांधीजी अपनी आत्मकथामें लिखते हैं :—

"मेरी शक्ति इसीमें है कि जनताको मैं कोई ऐसी बात करनेको नहीं कहता, जिसे मैं अपने जीवनमें बार-बार आजमा चुका न होऊं।"

बछड़ेकी घटनाके बाद उनके जीवनमें इसी तरहकी और भी घटनाएं घटी हों, ऐसा कहीं पढ़ने व सुननेमें नहीं आया। न कहीं इस प्रकारके वधके लिए उन्होंने कोई प्रचार किया। बहुत संभव था कि अपने इस प्रथम प्रयोगको यदि तत्त्वतः ठीक सम-

झते तो इस प्रकारका प्रचार करके अगणित प्राणियोंको मरणासन्नकालकी वेदनासे मुक्त करनेमें उन्हें कोई भी शक्ति रोकनेवाली नहीं थी और उनके जीवनमें भी ऐसी घटनाएं अनेक वार घटित होतीं। इस प्रकार सोचते हुए हम सहज ही इस निर्णय पर पहुंच जाते हैं—वछड़ेकी घटना उनके जीवनकी एक भूल थी और वह दूसरी वार नहीं दुहराई गई।

जीवनन्मुक्त दशा वताकर किया गया समाधान केवल श्रद्धा-भरा निर्णय कहा जा सकता है। वस्तुस्थितका दिग्दर्शन श्री महादेव देसाईके शव्दोंमें ही हो जाता है, जो हरएक तर्कशील व्यक्तिके लिए मान्य हो सकता है।

भगवान् महावीरसे एकवार पृछा गया—एक अहिंसक साधु के पैरोंके नीचे आकर यदि कोई जीव कुचल जायं तो उसका क्या फल होगा? श्री महावीरने उत्तर दिया—यदि वह वताये प्रकारसे पूर्ण अहिंसक है, चलनेकी क्रियामें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं कर रहा है अर्थात् विधिवत् चल रहा है तो उसके उस हिंसा से पाप वंध नहीं होगा। वह द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं, वह साधु हिंसक नहीं अहिंसक ही है।

एक प्रसंगमें यह भी वताया कि यदि कोई साधु अविधिसे चल रहा है, उसके द्वारा कोई हिंसा न भी हुई, तो भी वह अपनी प्रवृतिसे हिंसक हो ही चुका, अतः वह हिंसाके पापका भागी अवश्य होगा।

"यस्य नाहंकृतो भावो, वुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्, न हन्ति न निवध्यते॥"

गीताके इस श्लोककी व्याख्या भी यदि भगवान महावीरके उक्त कथनानुसार की जाय तो अधिक युक्तिसंगत और बुद्धिग्राह्य होती है। बहुत संभव है कि गीता और भगवान् महावीरके कथनमें शब्दभेद होते हुए भी अन्तर्ध्वनि एक ही हो। पाठक तुलना करें:—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, समं भूयाइ पासओ।
विहिया सव्वस्स दन्तस्स, पावकम्मं न बंधई ॥१॥
जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बंधई ॥२॥

भावार्थ—जो प्राणीमात्रमें आत्मबुद्धि रखता है, प्राणीमात्रके प्रति समदृष्टि है, जिसके कर्म-आगम-द्वार (आस्रव) बन्द हैं, वह कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

जो संयमपूर्वक चलता है, संयमपूर्वक ठहरता है, संयमपूर्वक बैठता है, सोता है तथा संयमपूर्वक खाता है और बोलता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता।

यही गीता कहती है :—

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥१॥
यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्, न हन्ति न निबध्यते ॥२॥"

भावार्थ—जो योगयुक्त, विशुद्धात्मा, जितात्मा और जितेन्द्रिय है, प्राणीमात्रको स्वात्मतुल्य समझनेवाला है; वह हिंसादि करता हुआ भी कर्मलिप्त नहीं होता।

जिसके अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं है; वह हिंसा करता हुआ भी न हिंसक होता है, न कर्मलिप्त होता है।

वस्तुतः योगयुक्तता, जितेन्द्रियता, सर्वभूतात्मभूतात्मकता आदि गुणों तक पहुंचजानेवाले व्यक्तिके लिए हिंसा करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। 'यह कथन केवल ईश्वरके लिए ही है' यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता। अतः यह प्रतिपादन इस दशा तक पहुंच जानेवाले प्राणियों (ऋषि-महर्षियों) के लिए ही होना संभव है। ऐसी स्थितिमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि देहधारी होनेके कारण इस दशा तक पहुंचनेवाले व्यक्तियों द्वारा भी मनःस्थिरता होते हुए कायिक चंचलता के कारण अनिच्छित हिंसा हो ही जाती है। वह हिंसा उनके पापका कारण नहीं है। अतः जिसप्रकार भगवान् श्री महावीर के कथनकी जैन-मनीषियोंने जो व्याख्या की है, वह गीताके उक्त प्रसंगोंके लिए भी उचित प्रतीत होती है।

अस्तु—बछड़ेकी घटनाको तो गीताके कथनसे कोई समर्थन मिल ही नहीं सकता।

भूखेको अन्न, प्यासेको जल उसकी इच्छानुसार दिया जाता है, यह उदाहरण मरण देनेमें घटित नहीं हो सकता। यह कोई निर्णीत तत्त्व नहीं कि मरणासन्न व्यक्ति मृत्युकी ही कामना करता हो। व्यावहारिक प्रसंग तो हमें बताते हैं कि प्रायः मरणोन्मुख व्यक्ति भी यही हाय-तोबा करते रहते हैं कि अमुक डाक्टरको लाओ, अमुक औषध मुझे दो, किसी प्रकार मैं स्वस्थ बनूं।

किसी भी प्राणीके विषयमें यह निर्णय कर देना कि यह बच नहीं सकता, किसी सर्वदर्शी मानवका ही उचित हो सकता है। साधारण मनुष्यका तो यह सोचना भी बुद्धिका अहंकार है कि ऐसा निर्णय किया भी जा सकता है। हमारे व्यावहारिक जीवनमें ऐसे उदाहरण उपस्थित होते रहते हैं कि डाक्टरोंने जिसके स्वस्थ होनेका निर्णय दिया, वह मर गया और जिसके रोगको असाध्य बताया, वह किसी साधारण प्रयोगसे स्वस्थ हो गया।

यह तो सोचा ही कैसे जा सकता है कि किसीको मरण देकर हम शान्ति ही देते हैं। पुनर्जन्मवादीको यह मानना ही होगा कि मरनेवाला प्राणी अपने कृतकर्मोंके अनुसार सुखमय या दुःखमय किसी भी योनिमें पैदा हो सकता है, जिसमें पूर्वजन्मकी मारणान्तिक वेदनासे भी कठोरतर वेदनाका अनुभव करना पड़ता हो। ऐसी स्थितिमें शान्तिके उद्देश्यसे मारनेवाला उसके लिए अशान्तिदाता हो सकता है। इसी घटनाको हम यदि सिद्धांतके रूपमें कुछ व्यापक दृष्टिसे सोचते हैं तो वह सिद्धान्त अव्यावहारिक सा लगता है। कुछ क्षणोंके लिए यदि हम मान लें कि मरणासन्न प्राणियोंको मरण देना एक अहिंसाका अंग है, तो हम सहज ही सोच सकते हैं कि हमारे व्यावहारिक जीवनमें वह कैसी अव्यवस्था ला सकता है। साधारण जनता उस सिद्धान्त के नाम पर क्या क्या नहीं कर सकती है। निःसन्देह पशुओंकी तो कथा ही क्या; कितने ही वृद्ध, रुग्ण, अशक्त मनुष्योंको भी अकारण ही शान्ति-यात्रा कर लेनी होगी। किसी विषयका

सैद्धान्तिक निर्णय कर लेनेके बाद ऐसी कोई भी भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती, जो वह सिद्धान्त केवल गांधीजी या किसी पुरुष-विशेषके लिए ही उपादेय हो।

महात्मा गांधी एक करुणाशील व्यक्ति थे। उनका हृदय मोमकी तरह कोमल था। वे किसी प्राणीके दुःखको देखकर तिलमिला उठते थे। ऐसा उनके जीवनके अनेक प्रसंगोंसे मालूम होता है। बहुत कुछ संभव प्रतीत होता है कि बछड़ेके विषयमें उनके करुणार्द्र हृदयका एक तात्कालिक और आकस्मिक निर्णय हो, जो उनके जीवनमें फिर नहीं दुहराया गया।

भगवान् श्रीमहावीरके जीवनमें भी ऐसा एक प्रसंग आया था। जबकि 'तेजो-लेश्या' (एक यौगिक शक्ति) को काममें लेना प्रत्येक सन्यस्त साधुके लिए विवर्जित है, भगवान् महावीर ने उसे काममें लिया।

भगवान् महावीरके गोशालक नामक एक शिष्य था। एक बार वह किसी अन्य तपस्वीसे छेड़छाड़ करने लगा। उस तपस्वीने गोशालकको मारनेके लिए 'उष्ण-तेजो-लेश्या' छोड़ दी। महावीरने और कोई उपाय न देख 'शीतल-तेजो-लेश्या'का प्रयोग कर गोशालककी रक्षा की। यह उनके असर्वज्ञ साधु-जीवनकी घटना थी। कैवल्यप्राप्तिके बाद जब ऐसा दूसरा प्रसंग उनके सामने आया, तब दो साधु उनके सामने उसी यौगिक शक्तिसे भस्म कर दिए गये। उस अवसर पर भगवान् महावीरने प्रति-पक्षी यौगिक शक्तिको काममें न लिया। इस प्रकार यह स्पष्ट

हो जाता है कि यौगिक शक्तिको काममें लेना उनके असवज्ञ जीवनकी भूल थी और वह जीवनपर्यन्त फिर दुहराई नहीं गई।

भगवान् महावीरके श्रद्धाविभोर आलोचक यह माननेको तैयार नहीं कि उन्होंने (भगवान् महावीरने) अपने जीवनमें यह भूल की थी। वे भी उन्हें जीवन्मुक्तकी तरह 'कल्पातीत' (नियमातीत) वताकर दोषमुक्त करते हैं। पर तर्ककी कसौटी पर वह समाधान सही नहीं उतरता।

किसी विशिष्ट व्यक्तिकी इस प्रकारकी घटनाको भूल मान लेने से उसका गौरव घट नहीं जाता। भूल होना मानवका एक सहज स्वभाव है। यदि इसप्रकारकी एक भी भूलको अपने श्रद्धापूर्ण मानससे येनकेनप्रकारेण हम उपादेय सिद्ध कर देते हैं तो वस्तुतः अनगिन भूलोंके लिए एक वड़ा द्वार खोल देते हैं।

इस विषयमें आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण भी मनन करने योग्य है। वे कहते हैं:—

"जीव जीवै ते दया नहीं,
मरै हो ते तो हिंसा मत जाण।
मारणवालां नै हिंसा कही,
नहीं मारै हो ते तो दयागुणखाण॥"

भावार्थ—इस सुविस्तृत संसारमें अनन्त जीव अपने आयुष्य-बलसे जी रहे हैं। उनके लिए कोई दयावान् होनेका दावा नहीं कर सकता, क्योंकि वे तो स्वतः जीवित हैं। इसीप्रकार अपने आयुष्यबलके क्षीण होनेसे जो स्वतः मर रहे हैं, उनके लिए कोई

हिंसक नहीं कहा जा सकता। हिंसक तो मारनेवाला है। मन, वचन, कायासे हिंसामें योग नहीं देनेवाला सदा अहिंसक ही है।

जैसा कि काका कालेलकरने लिखा है—"उस घटनाको चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था' उपरोक्त दृष्टिकोणसे कुछ माने नहीं रखता। यदि देखनेवाले उसकी मरण क्रियासे सर्वथा निरपेक्ष थे तो कोई कारण नहीं कि बछड़ेका मरना उन्हें हिंसक बना देता।

यदि यह भी मान लिया जाय कि महात्माजीका यह कार्य उनके सिद्धान्तोंके अनुकूल ही था तो भी आचार्य भिक्षुके विचार तो उनके इस सिद्धान्तके साथ किसी प्रकार मेल नहीं खा सकते।

बछड़े का प्रसंग (२)

'बछड़ेका प्रसंग (१)' शीर्षक प्रकरणकी परिसमाप्तिके पश्चात् एतद्विषयक और भी सामग्री मुझे उपलब्ध हुई। बहुतसे आलोचनापूर्ण पत्र तथा महात्माजी द्वारा किये गये समाधान, जिसमें उल्लेखनीय हैं। महात्माजीने बछड़ेको हिंसाको सर्वत्र अहिंसा ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। 'नव जीवन' ता० १३-१-२८ में एक लम्बी टिप्पणीके साथ 'जैनी अहिंसा' शीर्षकसे एक लेख प्रकाशित किया जिसमें जिनभद्र गणी, हरिभद्र सूरि तथा हेमचन्द्राचार्यके अभिप्रायोंसे अपने अभिमत तत्त्वकी पुष्टि की है। विशेष आवश्यक भाष्य तथा दशवैकालिक आदि ग्रन्थों व आगमों के उद्धरणोंसे भी अपने विषयको स्पष्ट करना चाहा है। यहां ग्रन्थ-विस्तारके भयसे उस सम्बन्धमें अधिक विवेचना तो नहीं कर सकता, किन्तु इतना अवश्य लिख देना चाहूंगा कि वहां जैनी अहिंसाका हार्द नहीं पकड़ा गया है। "जयं भुंजन्तो भासंतो

पावकम्मं न वंधई" "पहिया सव्वस्स दन्तस्स पावकम्मं न वंधई" आदि वाक्य षष्ठ गुणस्थानवर्ती पूर्ण संयतोंके लिए ही कहे गये हैं जानबूझकर मरण देनेका तो वहां कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

अस्तु—ता० ३-२-२८ को उनका लिखा एक लेख यहां उद्धृत किया जाता है, जिसमें पाठकोंको महात्माजीके शब्दोंमें बछड़ेकी घटना व तद्विषयक उनके मन्तव्य पढ़नेको मिलेंगे। 'बछड़ेका प्रसंग (१)' पूर्व उपलब्ध सामग्रीके आधार पर लिखा गया था अतः उसमें महात्माजीके विचारोंका विश्लेषण नहीं किया जा सका। किन्तु अब एतद्विषयक बहुत सी सामग्रीके सामने आ जानेके पश्चात् भी लेखककी दृष्टि उस विषयमें ज्योंकी त्यों ही है। लेखको उद्धृत करनेका तात्पर्य तद्विषयक सारे समाधानोंको पाठकोंके सामने ला देनेका है।

"सत्याग्रहाश्रम गोसेवासंघनी वती आदर्श दुग्धालय चर्मालयना प्रयोगो करी रहेल छे. तंने अंगे क्षणे क्षणे धर्मसंकटो पेदा थाय छे. जो आश्रमनो आदर्श केवल अहिंसाने ज मार्गे सत्यनी शोधनो न होत तो अेवां संकटो उत्पन्न न थात।

केटलाक दिवसो पूर्वे आश्रमनो अेक अपंग थई गयेलो वाछडो रिबातो[1] हतो. तेनी दवा करी, पशुना दाक्तरनी सलाह लीधी. तेमणे तेना जीववानी आशा छोडी. अमे पण जोई शक्या के ते रिबाय छे तेने पडखुं फेरवावतांये दुःख थाय.

---

१ पीड़ासे कराहना।

मने लाग्युंके आवी स्थितिमां आ वाछडानो प्राण लेवो अे धर्म छे, अहिंसा छे. में साथीओनी साथे मसलत[1] करी. तेमनामांना घणाअे मारा अभिप्रायने टेको[2] आप्यो. पछी आखा आश्रमना लोकोनी पासे वात करी. तेमां अेक भाईअे खूब दलील थी सखत विरोध कर्यो, पोते सेवा करवानुं माथे लीधुं, ने तेना प्राणहरण कर्या त्यां लगी तेणे अने केटलीक बहेनोअे तेनी उपरथी माखीओ उडाडवानुं काम कर्युं.

मजकूर भाईनी दलील अे हतीके, जेने प्राण आपवानी शक्ति नथी ते प्राण हरण न करे, मने आ दलील आ प्रसंगे अस्थाने लागी, ज्यां स्वार्थ-भावनाथी कोई बीजानो प्राण हरण करे त्यां तेवी दलीलने स्थान होय, छेवटे दीनभावे पण दृढ़तापूर्वक पासे ऊभा रहीने दाक्तरनी मारफते झेरनी पिचकारी देवडावी वाछडाना प्राण हरण कर्या. प्राण जतां बे मिनिट थी ओछो वखत गयो हशे.

हुं जाणतो हतो के आ काम चालु लोकमतने पसंद न पडे, अेमां चालु लोकमत हिंसा ज जोशे. पण धर्म लोकमतनो विचार न करे, ज्यां हुं धर्म जोउं त्यां बीजा अधर्म जुअे, तो पण मारे तो मने सूझेलो धर्म ज आचरवो जोईअे अेम हुं शीख्यो छुं, अने अे ज बरोबर छे अेम मारी आगल अनुभवे सिद्ध कर्युं छे. वास्तविक रीते में मानेलो धर्म अधर्म होई शके, पण केटलीक वार अणजाण भूल कर्या विना अधर्मनी खबर पड़ती नथी. लोकमतने वश थई के बीजा कोई भयने वश थई हुं जेने धर्म मानुं ते न आचरूं तो धर्माधर्मनो निर्णय हुं कोई दहाडो

१—परामर्श २—समर्थन

करवा न पामुं, ने छेवटे हुं धर्महीन थई जाऊं आवा ज कारण थी प्रीत में गायुं छे के ।

"प्रेम पंथ पावक नी ज्वाला भाली पाछा भागे जोने"

अहिंसा धर्म नो पंथ अे प्रेमपंथ छे. ते पंथे माणसने घणी वेला अेकाकी विचरवुं पडे छे.

जेवु वाछडाने विषे हुं इच्छुं ? तेवुं मनुष्यने विषे करवा हुं तैयार थाउं ? आ प्रश्नमें मननी साथे ने मित्रोनी साथे चर्च्यो, मने लाग्युंके बन्नेने अेक ज न्याय लागु पडे, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अे महा वाक्य अहीं लागु न पडे तो वाछडाने न हणाय, अेम मने स्पष्ट लाग्युं. अेवां दृष्टान्तो कल्पी शकायके ज्यारे हणवामां अहिंसा अने न हणवामां हिंसा होय. मारी दीकरी[1] जे अभिप्राय आपवा योग्य नथी, तेनी उपर आक्रमण करनार कोई चड़ी आवे, मने तेने जीतवानो बीजो मार्ग न ज मले, तो हुं दीकरीनो प्राण लउं, अने आक्रमण करनारनी तलवार ने वश थाउं तेमां हुं शुद्ध अहिंसा जोउं. दरदोथी पीडातां प्रिय जनोने आपणे हणता नथी, केमके आपणी पासे तेमनी सेवा करवानां साधनो होय छे ने तेमने समज होय छे. पण सेवा शक्य न होय, जीववानी आशा न ज होय, ते बेशुद्ध होय अने महादुख भोगवतां होय, ते तेमना प्राणहरणमां हू लेशमात्र पण दोष न जोउं.

जेम दरदोना[2] साराने सारु तेनी वाटकाप[3] करतां दाक्तर हिंसा नथी करतो पण शुद्ध अहिंसाधर्म पाले छे, तेमज मारतां पण अहिंसानुं

१—पुत्री २—बीमार ३—चीरफाड़

पालन होई शके. वाढकापमा मनुष्य साजो[1] थवानो संभव छे, प्राण-हरणमां तो प्राण ज जाय छे, अेवी दलील करवामां आवी छे. पण विचार करतां जणाशे के बन्नेमां साध्य वस्तु अेक ज छे. प्राण हरीने अने वाढकाप करीने शरीरमां रहेला आत्माने दुःखमुक्त करवानी धारणा सामान्य छे. शरीरनी वाढकाप करीने सुख शरीरने नहि पण आत्मा ने आपवानुं छे. आत्मारहित शरीरमां सुखदुःख भोगववानी शक्ति ज नथी,

मृत्यु दंडनो जे डर अत्यारे समाजमां जोवामां आवे छे, ते अहिंसा-धर्मना प्रचारमां भारे बाधा करनारी वस्तु छे. कोई ने गाल देवी, तेनुं बूरूं इच्छवुं, तेने ताडन करवुं, तेने रिबाववुं, अे बधुं हिंसा ज छे. अने केटलीक वेला रिबाववुं अे मृत्युदंडना करतां अतिशय घोर हिंसा होई शके. जे मनुष्य पोताने स्वार्थना सारु बीजाने रिबावे छे, तेना नाक-कान कापे[2] छे, तेनी पूरी भूकी खावानुं नथी आपतो नं बीजी रीते तेनु अपमान करे छे, ते मृत्युदंड देनार करतां बहु वधारे निर्दयता वापरे छे. जेमणे अमृतसरनी गलीमां लोको ने कीडानी जेम पेटे चलाव्या, तेमणे जो तेमने मारी नांख्या होत तो ते ओछा घातकी गणात. पेटे चालनार ना आज जीवे छे अेम कही, कोई पेटे चलाव-वानी शिक्षा ने मृत्युदंडना करतां हलकी माने तो ते अहिंसा ने नथी जाणता, अेम कहेतां मने जराये संकोच नथी थतो. अेवा अनेक प्रसंगो छे के ज्यारे माणसे तेमने वटावी[3] मोतने वधाववुं घटे. जे ओ आ धर्म न समजे ते अहिंसाना मूल तत्त्वने नथी जाणता.

१—स्वस्थ २—काटता है ३—बदले

'हरिनो मारग छे शूरानो,
नहि कायरनुं काम जोने.'

'हे नाथ ! हुं असत्य आचरीने जीवुं तेना करतां मने तुं मोत आपजे,' ओ प्रार्थना आपणी ईश्वर प्रत्ये नित्य होय.

हे दुश्मन ! मारुं अपमान करे, मारी पासे थी तुं अमानुषी कर्म करावे तेना करतां तु मने मारी नांख, तो हुं तारो पाड[1] मानुं,' आवी प्रार्थना अहिंसाधर्मनुं पालन करनार मनुष्य दुश्मन प्रत्ये करशे.

आ दृष्टांतो रजू करवानी मतलब ओ वतावनानी छे के मृत्युदंड ओ हमेशां हिंसा ज नथी. वाछडानी स्थितिमां रहेला पशुनो प्राण लेवो ओ उपरनां दृष्टांतोनी साथे वंधबेसे के नहि ओ भले नोखो[2] प्रश्न गणाय, ओ विषे भले मतभेद होय. अहीं तो मारे अहिंसाने विषे चालती केट-लीक गेरसमज बतावनी छे.

केवल मरणमांथी ज मानवी अथवा पशुने थोडा कालने सारु पण बचावी लेवामां अहिंसा छे ज ओ मान्यता वहेम छे, अने ओथी आजे देशनां घोर हिंसा थई रहेली हु जोउं छुं. ओक रिवाल पशुना प्राण लेवाथी थयेला आघातनी साथे ज्यारे हु असंख्य प्रकारनां चालती निर्दयताने विषेनी उदासीनताने सरखावुं छुं, त्यारे आपणे अहिंसा धर्मी छीओ के आपणे अहिंसा ने नामे जाणे के अजाणे अधर्म आचर-नारा छीओ, ओ प्रश्न सहेजे उत्पन्न थाय छे.

आपणा अविचार अने आपणी भीरुताने लीधे हुं तो डगले[3] ने पगले

१—अनुग्रह २—पृथक् ३—कदम कदम पर

हिंसा थति जोई रह्यो छुं. आपणी पांजरापोळो अने गोशालाओ हिंसाना स्थान थई पड्यां छे. स्वार्थथी अंध थई आपणे रोज आपणां पशुओ उपर अत्याचार करीअे छीअे, तेमने रिबावींअ छीअे. तेमने वाचा होय तो तेओ आपणने अवश्य कहे : 'अमने आम' रिबावो छो तेना करतां अमने मारी नांखो तो तमारो पाड मानीअे.' तेमनी आंखोमां आवो मागणी में तो अनेक वार वांचा छे.

आ उपरथी अेम कहो शकायके स्वार्थने वश थईनेके क्रोधमां कोई पण जीवने दीधेलुं दुःख के ते तेनुं इच्छेलुं अनिष्टके प्राणहरण ते हिंसा-निःस्वार्थ वुद्धि थी, शांत चित्त थी कोई पण जीवना भौतिकके आध्यात्मिक भलाने सारु तेने दीधेलुं दुःखके तेनुं प्राणहरण क्यारे अहिंसा कहेवाय ते प्रत्येक दृष्टांत विचारीने ज कही शकाय. छेवटमां[२] अहिंसानी परीक्षा भावना उपर आधार राखे छे

(अहिंसा पृष्ठ १२३—१२८)

उक्त विवेचनमें महात्माजीने कुछ एक उदाहरणोंसे अपने अभिमत तत्त्वकी पुष्टिकी है। हमें यहां यह देखना होगा, वे उदाहरण वछड़ेकी हत्याके साथ कहां तक मेल खाते हैं।

पुत्री प्राण-हरणका उदाहरण स्वयं सन्दिग्ध है। अभिप्राय व्यक्त करनेमें असमर्थ वालिकाके प्राण लेना स्वयं एक बछड़ेका सा ही प्रसंग हो जाता है। गांधीजी उस प्राण-हरणको अहिंसा मान सकते हैं, किन्तु आचार्य भिक्षुके विचार यहां उतने ही टकराते

१—इस प्रकार २—अन्तमें

हैं, जितने बछड़ेके प्रसंगमें। जहां व्यक्तिकी इच्छा ही अव्यक्त है, यह भी नहीं जानागया कि वह स्वयं मरना चाहती है या अत्याचारीके वश होना, वह मरण-दान अहिंसा कैसे ?

जैनोंमें आमरण-अनशनको प्रथा है। अनशन सहित मृत्यु का बड़ा महत्त्व समझा जाता है। बेहोश स्थितिमें कराया गया अनशन अवैध है, चाहे वह रुग्ण कितनी ही ज्वलन्त धार्मिक भावनावाला हो, चाहे वह अचेतनावस्थासे पूर्व अनशन दिलाने के लिए आग्रह ही क्यों न करता रहा हो। क्योंकि परिणामोंकी दशा क्षणमात्रमें बदल सकती है। वहां विचारोंकी वर्तमान स्थिति अज्ञात है।

जब रोगी सन्दिग्ध स्थितिमें होता है, पर पता नहीं चलता कि इसकी अन्तश्चेतना जागृत है या मूर्च्छित; तब उसे इस बादे पर अनशन कराया जाता है कि यदि तुम्हारी अनशन लेनेकी भावना है और तुम्हारी अन्तर-अनुभूति जीवित है तो तुम्हारे लिए आमरण अनशन है। जाननेकी बात यह है, यदि वह रोगी होशमें आकर अनशन-स्वीकृतिका परिचय न दे तो अनशन दाता यह घोषित नहीं करते कि अमुकने आमरण अनशन लिया है। पर बछड़ेके विषयमें या उस स्थितिमें पहुंचे अन्य किसी प्राणीके विषयमें हम निर्णय करनेका क्या अधिकार रखते हैं कि वह मरना चाहता है या चाहता था।

तथाप्रकारके मरण-दानके विषयमें हमें और भी एक दृष्टि-कोणसे सोचना चाहिए। जीवनके शारीरिक और मानसिक

कष्टोंसे घबराकर मृत्युकी कामना करना महापाप है– यह आचार्य भिक्षु भी मानते थे और स्यात् महात्मा गांधी भी। आचार्य भिक्षुके विचारोंसे मरनेके लिए कोई अनशन नहीं ले सकता और अनशनमें भी शीघ्र मरनेकी कामना नहीं कर सकता। महात्माजीने तो अभयको व्रतोंमें स्वतन्त्र स्थान ही दिया है। हिंसा, असत्य आदिकी तरह भयको भी उन्होंने एक पाप माना है। अब सोचना यह है, कुछ क्षणके लिए यह मान ही लिया जाय—बछड़ा मरना ही चाहता था, तो यह सोचना होगा कि क्या वेदनासे घबड़ाकर मृत्युकी कामना करना कायरता और पाप नहीं है? उस स्थितिमें उसे मृत्युकी ओर ही ढकेलना क्या उसकी कायर भावनाओंको योग-दान करना नहीं है ?

बछड़ा अज्ञानी है। पर महात्माजी मनुष्यके लिए भी वही नियम लागू करते हैं। तभी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का नियम चरितार्थ होता है। मनुष्य वेदनासे घबड़ाकर मरणकी कामना करे और अहिंसक उसे मृत्यु दण्ड दे, ये दोनों ही बातें चिन्तनीय है।

यदि कहा जाय—कोई बहिन जिस पर अत्याचार हो रहा है, स्वयं आत्म-हत्या करले तो वह अहिंसा ही है, धर्म ही है। ऐसा आचार्य भिक्षु भी कहते हैं और महात्मा गांधी भी। वहां क्या कष्टोंसे घबराकर मरनेकी कामना नहीं है ? नहीं, सती महिला के हृदयमें मरनेको कामना नहीं होती, उसका मानस सतीत्व रक्षाका मार्ग खोजता है। दूसरी बात—वहां भयका सर्वथा

अभाव है। वह शारीरिक या मानसिक कष्टोंसे घबराकर मृत्यु की ओर नहीं जा रही है, वहां तो असीम आत्म-बलका परिचय है। यदि कहा जाय—यह भी एक प्रकारका भय है, तो यह वही आत्म-पतनका भय है, जो किसी भी विवेकशील व्यक्तिको हिंसा करनेमें, असत्य बोलनेमें, व्यभिचारके मार्गमें जानेमें होता है। वह सोचती है - मेरा सतीत्व नष्ट न हो। यह असतीत्व का भय है, जो किसी भी दृष्टिसे हेय नहीं कहा जा सकता। शारीरिक कष्टोंसे ऊबकर मरनेकी सोचना दूसरी बात है। यही दृष्टि आमरण अनशन करनेमें हैं। यदि कोई कष्टोंसे ऊबकर मरनेके लिए अनशन करना है नो वह अनशन ही नहीं है। जिसका जीवनसे मोह छूट जाता है और मृत्युकी अभिलाषा जिसे प्रेरणा देती है, राग-द्वेष रहित माध्यस्थ्य वृत्तिसे त्यागकी कामना करनेवाला मनुष्य ही अनशनका अधिकारी है। अस्तु।

गांधीजी लिखते हैं—डाक्टर रोगीको दुःखमुक्त करनेके लिए चीरफाड़ करता है, इसलिए वह हिंसा नहीं करता। पर कर्म-सिद्धान्तमें विश्वास रखनेवाला व्यक्ति यह कैसे माने कि हम किसी बछड़ेको वा अन्य प्राणीको, मरण देकर दुःखमुक्त करते है। यदि वह उससे भी दुःखद योनिमें उत्पन्न होनेवाला है तो मरण देने वाला दुःखसे महादुःखमें ढकेल देता है, यह मान लेना ही होगा।

हिंसाका सम्बन्ध भावनासे ही है, यह निष्कर्ष भी निर्विवाद नहीं है। इतना तो अवश्य निर्विवाद है कि हिंसाका सम्बन्ध भावनासे भी है अर्थात् 'ही' सन्दिग्ध है और 'भी' असन्दिग्ध

है। यदि 'ही' को मानकर ही चला जाय तो पाप और अधर्मका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। कसाई और चोर जैसे अधम प्राणी भी यह कहकर हि हमारी भावना हिंसाकी नहीं है, मूक पशुओंसे और धनी-मानी सेठोंसे हमारा कोई द्रोह नहीं है, अन्य साधनोंके अभावमें हम अपने गृहस्थ-धर्मको चलानेके लिए ऐसा करते हैं।

अहनन भी क्वचित् हिंसा है। इस विषयमें भी दोनों विचारकोंके दृष्टिकोण सर्वथा पृथक् रह जाते हैं। महात्माजीके विश्वासानुसार किसी क्रूर कर्मको यों ही देखते रहना हिंसामें योग करना है। आचार्य भिक्षुके मतानुसार मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तिसे तटस्थ रहनेवाला व्यक्ति सम्मुख होनेवाले पापका भागी नहीं बन जाता। क्रूर कर्ममें योग करनेवाला व्यक्ति पापी है। उपदेश-विधिसे किसीको क्रूर कर्मसे हटानेवाला व्यक्ति धर्मी है। तटस्थ रहनेवाला व्यक्ति न पापी है, न धर्मी है।

अस्तु—बछड़ेके व तत्प्रकारके अन्य उदाहरणोंके विषयमें आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी अनेक अर्थोंमें एक दूसरेसे बहुत दूर रह जाते हैं।

दोनोंके ही दृष्टिकोण विचारक पाठकोंके लिए मननीय हैं।

दान-धर्म

"विना प्रामाणिक परिश्रमके किसी भी चंगे मनुष्यको खाना देना मेरी अहिंसा वर्दाश्त नहीं कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहां मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न-छत्र बन्द करा दूं।"

(सर्वोदय दिसम्बर ३८—गांधी-वाणी पृ० १५३)

"दुनियांमें विना शारीरिक श्रमके भिक्षा मांगनेका अधिकार केवल सच्चे सन्यासीको है। सच्चे सन्यासीको जो ईश्वर-भक्तिके रंगमें रंगा हुआ है—ऐसे सन्यासीको ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपरमें देखनेसे यह भले ही मालूम पड़ता हो कि यह कुछ नहीं करता पर अनेकों दूसरी बातोंसे वह समाजकी सेवा करता है, ऐसे सन्यासीको छोड़कर किसीको अकर्मण्य रहनेका अधिकार नहीं है।"

(विनोवाके विचार पृष्ठ १२०)

ऊपरके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधीवादी

विचारधारामें—दीन अनाथोंको जो कुछ दे दिया जाता है वह परम धर्म है ऐसे विचारोंको कोई स्थान नहीं। उसके अनुसार वह एक धर्म न होनेके साथ अधर्म भी है। जैसे कि शरणार्थी-केम्पमें भाषण देते हुए आचार्य विनोबा भावेने कहा था—

❀ "बिना पर्याप्त परिश्रम किये लेनेवाले और उन्हें देनेवाले दोनों पाप करते हैं।"

अस्तु, आचार्य भिक्षुने तत्प्रकारके दानको सावद्य (सपाप) दान कहा है। दोनोंकी निर्णायकता दानके इस पहलू पर सर्वथा एकसी प्रतीत होती है, किन्तु इस निर्णायकताके पीछे रहे दृष्टिकोण अवश्य भिन्न हैं

गांधीवादी दृष्टिकोण कहता है— तत्प्रकारकी दान-प्रथा देशमें दरिद्रता और भिखमंगी बढ़ानेवाली है। समाजस्थ प्राणी दान-जीवी होनेका अधिकार नहीं रखता और न किसीको उसे दान-जीवी बनानेका अधिकार ही है। किसी भी समाजमें तत्प्रकार के दानवीरों और दानजीवियोंका होना एक सामाजिक अभिशाप है। इसलिए उक्तप्रकारकी दानप्रथा हेय और पापपूर्ण है।

आचार्य भिक्षु कहते हैं—यह असंयमका पोषण है अतः यह किसी भी प्रकार मनुष्यको आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ले जाने-वाला नहीं है। दूसरे यह समाज-व्यवस्थाका भी अंग नही है। यह नैतिकता भी कैसे माना जा सकता है।

❀ Hindustan times, 11th. April 1949

दानके अन्यान्य पहलुओं पर विचार करते हैं तो जहां तक सच्चे साधुका प्रश्न है, दोनों ही विचारधाराएँ मुक्तकण्ठसे इसे उपादेय मानती हैं। अतिरिक्त जहां लेने-देनेका प्रश्न है, वहाँ आचार्य भिक्षुके मतानुसार व्यवहार-सापेक्ष है। वह लोकदृष्टिमें नैतिकता और अनैतिकतामें विभक्त किया जा सकता है पर वह आध्यात्मिकताकी सीमामें नहीं लाया जा सकता। गांधी-विचारधाराके अनुसार जब बिना परिश्रम लिये देनामात्र ही वर्जित है, तब इतर दानका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि परिश्रमके विनिमयमें जो दिया जाता है, वह दान कहा भी नहीं जा सकता। सारांश यह हुआ—अधिकांशतः दोनों विचार सरणियोंमें हम एकरूपात्मकता ही पाते हैं।

त्याग और दान

त्याग और दानमें आकाश-पातालका अन्तर दोनों ही सिद्धान्तोंमें स्वीकृत है। आचार्य भिक्षु एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

पांच मित्रोंने चनोंकी खेती की थी। सौभाग्यसे ५०० मन चने पैदा हुए। पांचोंने सोचा—घरमें धन बहुत है, इन चनोंका हमें दान कर देना चाहिए। प्रथम मित्रने अपने सौ मन चने भिखारियोंमें बांट दिये। दूसरेने अपने हिस्सेके सौ मन चने भुंजवाकर गरीबोंको बांट दिये, तीसरेने घूघरी (उबले चने) बनाकर और चौथेने रोटियां बनाकर। पांचवें मित्रने अपने सौ मन चनोंका जंगलमें ही परित्याग कर दिया। उन्हें छूना भी अधर्म समझा।

पहले चार मित्रोंने दान किया, पांचवेंने त्याग। मोक्षका मार्ग त्याग ही है[१]।

त्याग और दानका विवेचन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं :—

"एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिये, खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिए, खर्च किया हुआ धन वापिस व्याज समेत मिल जाता है। इसलिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है।

दूसरे एक आदमीन इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सन्तोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। ..... कुआं जितना गहरा गया इन चीजों (मिट्टी, पत्थर) का ढेर भी उतना ही ऊँचा लग गया। मनहीमन वह सोचने लगा, 'मेरी तिजोरीमें भी पैसेका एक ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया हो ?' इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियाद पर मेरा मकान कब टिक सकेगा ? अन्तमें पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क दिखाई न दिया। यह सोचकर कि फिजूलका कूड़ा-कचरा भरकर रखनेमें क्या लाभ, उसने

१—भिक्षु यश रसायन गीति १५, पृष्ट ५२

अपना सारा धन गंगामें बहा दिया। उससे कोई कोई पूछते हैं 'दान क्यों न कर दिया ?' वह जवाब देता है, 'दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्रको दान देनेसे धर्मके बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगाका 'पात्र' मिल गया। उसमें मैंने दान कर दिया।' इससे भी संक्षेपमें वह इतना ही कहता है—'कूड़े-कचरेका भी कहीं दान किया जाता है ?' उसका अन्तिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके संपत्ति त्यागसे उसके सब 'सगोंने' उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्याग की। आजके जमानेमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है।"

"पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीके कोई एक जल्दीका काम आपड़ा। उसने थोड़ी देरके लिए घोड़ेसे उसकी पीठ किराये पर मांगी। घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा—'लेकिन तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता, तू लगाम लगाने देना तभी मैं बैठ सकूंगा।' लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़ेने भी थोड़े समयमें उसका काम बजा दिया। अब करारके मुताबिक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है '.........हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा), इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदलेमें मैं तेरी खिदमत करूंगा।

तेरे लिए घुड़शाल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूँगा, जो कहेगा वह करूँगा पर छोड़नेकी बात मुझसे मत कहना।' घोड़ा त्याग चाहता था, आदमी दानकी बातें कर रहा था। भले आदमी, कमसे कम अपना करार तो पूरा होने दे।"

(विनोबाके विचार पृष्ठ ४-६)

एक व्यक्तिने सौ मन चने जंगलमें छोड़ दिये और एकने अपना धन गंगामें विसर्जित कर दिया। सर्वसाधारणसे यदि एकाएक पूछा जाय, चनेके पांच व्यापारियोंमें और दो धनिकोंमें मूर्ख कौन हुआ, तो स्यात् तत्काल उत्तर होगा—मूर्ख वही दो हैं, जिन्होंने चने और धन खेत और गंगामें विसर्जित कर दिये। जो न अपने काम आये, न समाजके। धन और चनोंका सर्वथा दुरुपयोग हुआ। आचार्य भिक्षु और विनोबा भावेका जो निर्णय था, वह बताया ही जा चुका है। तत्त्व-दृष्टि और लोक-दृष्टिका भेद दो मनीषियोंके चिन्तनमें स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्यक्ष ही मनुष्यके लिए सब कुछ नहीं है। उसका मूल ध्येय तो परोक्षके गर्भमें छिपा है। परोक्ष-साधनाके लिए त्याग अधिक विशुद्ध रह सकता है। दानमें देश, काल, पात्रकी अनिवार्य अपेक्षा रहती है। कीर्ति व सम्मानकी भावनाका आवरण भी उसे दूषित कर देता है। त्यागका तेज इन बहुत-सी उपाधियोंसे अछूता रह जाता है।

खेतमें चनोंको छोड़ देना और गंगामें धनको प्रवाहित कर देना त्यागको समझनेके स्थूल उदाहरण हैं। त्यागका प्रमुख हार्द

तो असंग्रह-वृत्तिमें निहित है ही। आवश्यकताओंको कम करने और संग्रहकी लालसाको समाप्त करने में ही त्यागके विराट् दर्शन हैं।

चूहा और बिल्ली

आचार्य भिक्षुकी प्राण-रक्षा विषयक गंभीर मान्यताको विरोधी लोगोंने अनेक कल्पित युक्तियों द्वारा अव्यावहारिक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था। लोक-भावनाको उत्तेजित करने के लिए वे नितनये प्रश्न उनके सामने रखते थे। उनमें सबसे प्रमुख प्रश्न चूहे और बिल्लीका था।

बिल्लीको मारकर चूहेको बचानेके विषयमें आचार्य भिक्षुके स्पष्ट उद्गार ये थे :—

"एकण रै दैरे चपेटी, एकण रो दै उपसर्ग मेटी।
एतो राग-द्वेष ना चाला, दशवैकालिक संभाला॥"

अर्थात् एकके चपेटा लगाना और दूसरेको प्यार करना, यह राग और द्वेषका कौतुहल है, दशवैकालिक सूत्रमें भगवान् महावीरने ऐसा कहा है।

आचार्य भिक्षुसे लोगोंने पूछा—और-और अहिंसाव्रती साधु

तो कहते हैं, हम बिल्लीको पीटकर चूहेको बचा लेते हैं, यह हमारा अहिंसा-धर्म है। आप इस विषयमें क्या कहते हैं ?

आचार्य भिक्षुने इस प्रश्न पर छः प्रतिप्रश्न रखे। उन्होंने पूछा—

तालावमें मछलियां और मेंढ़क भरे हैं। लट, जलौंक इधर-उधर रेंग रहे हैं। एक भैंस गर्मीसे व्याकुल हो उसमें लुटने जा रही है। उस स्थितिमें वे साधु अहिंसा-धर्मका पालन कैसे करेंगे ?

पुराने धान्यका ढेर लगा है, जिसमें अनेक जीव-जन्तु किल-बिल कर रहे हैं। अत्यन्त भूखा बकरा उस अन्नको खाने जा रहा है। उस स्थितिमें भी वे क्या करेंगे ?

वनस्पतिकी गाड़ी भरी है, जिसमें (वनस्पतिमें) असंख्य और अनन्त जीव माने गये हैं। एक भूखा बैल उसे खाने जा रहा है। उस स्थितिमें वे क्या करेंगे ?

पानीके मटके भरे पड़े हैं, जिनमें नीलण-फूलण छाई हुई है और लट आदि अनगिनत प्राणी पैदा हो गये हैं। गाय पानी पीनेके लिए उनपर आकर खड़ी है। उस स्थितिमें वे क्या करेंगे ?

कूड़े-कर्कटका ढेर लगा है। वर्षा होनेसे खात भीग गई, जिससे वहां लट आदि सहस्रों प्राणी कलबलाहट कर रहे हैं। पक्षी आये और वे लट आदि प्राणियोंको चुगने लगे। उस स्थिति में वे क्या करेंगे ?

गुड़, खांड आदि मिष्टान्नों पर अगणित मक्खियां बैठी हैं।

माके (मक्खीमार) मक्खियोंको मारनेके लिए मंडरा रहे हैं।

उक्त स्थितियोंमें साधु अहिंसा-धर्मका पालन कैसे करेंगे।

महात्मा गांधीके सामने भी इसप्रकारके प्रश्न आये। उन्होंने उनका क्या समाधान किया, यह निम्न उद्धरणमें पढ़ें :—

"एक भाई पूछे छे:—'नाना जंतुओ एक बीजानो आहार करतां अनेक वार जोइए छीए। मारे त्यां एक घरोली[1] ने एवो शिकार करतां रोज जोउं छुं, अने विलाडीने पक्षीओ नो। शुं ए मारे जोया करवो? अने अटकावतां बीजानी हिंसा करवी? आवी हिंसा अनेक थया ज करे छे, आमां आपणे शुं करवुं?'

उ०—में आवी हिंसा नथी थती जोई शुं? घणीये वार घरोलीने वांदानो शिकार करती अने वांदाने बीजा जन्तुओं नो शिकार करता मे जोया छे। पण ए 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी-जगतनो कायदो अटकाववानुं मने कदी कर्तव्य नथी जणायुं। ईश्वरनी ए अगम्य गूंच[2] उकेलवानो हुं दावो नथी करतो। पण एवी हिंसा जोई जोईने मने तो प्रतीत थाय छे के, पशु अने ऊतरती योनिनो कायदो ते मानव-योनिनो कायदो नथी, माणसे तो खंत[3] थी प्रयत्न करीने पोतानी अन्दर रहेला पशुने जीतवानो अने तेने मारीने आत्माने जीवतो राखवानो प्रयत्न करवानो छे। पोतानी आसपास चाली रहेला हिंसाना दावा-नल मांथी अहिंसानो महामन्त्र शीखवानो छे। एटले माणस जो पोतानी प्रतिष्ठा समजे अने पोतानुं जीवनकार्य कलीजाय तो तेणे हिंसामां पोते

१—छिपकली २—गांठ ३—जागरुकता

भाग लेता अटकवुं अने पोतामां थी ऊतरतां अथवा पोताने तावेनां[1] प्राणिओंने कनडतां[2] अटकवुं: ए आदर्श ए पोताने माटे ज राखी शके छे अने कांई नहि तो पोतामां थी नवला पोताना वंधूओंने कनडतोतो ते अटकी शके छे अने ए पण आदर्श,—कारण तेये संपूर्णपणे पालवाने माटे तेणे सतत दिनरात प्रयत्न ज चालू राखवो रह्यो, त्यारे कोई दिवस ते तेने पहोंची शकशे। आमां पूरी सफलता तो त्यारे ज मली शके के, ज्यारे माणस मोक्ष मेलवी देहनां तमाम वंधनथी मुक्त थाय।"

ता० १८-४-२६ (महात्मा गांधी द्वारा लिखित अहिंसा पृ० २७)

अहिंसाके एक ही पहलू पर आचार्य भिक्षु चूहे और बिल्लीके उदाहरणसे सोचते हैं, महात्मा गांधी छिपकली और अन्य छोटे जीव-जन्तु तथा बिल्ली और कबूतर आदि पक्षियोंके उदाहरणसे। सोचनेका प्रकार और निर्णायकता समान सी है। अहिंसाको समझनेमें दोनोंकी ही दृष्टि पैनी रही है दोनोंके ही निर्णयमें अहिंसा व दयाका व्यामोह नहीं किन्तु गम्भीर चिन्तन है।

प्राण-रक्षा

प्राण-रक्षाके विषयमें आचार्य भिक्षुके विचार बेजोड़ अर्थात् निराले हैं। उन्होंने माना था—जीना और मरना आत्माके मौलिक प्रश्न नहीं हैं। यह एक चक्कर है, जिसमें कर्मलिप्त आत्मा विवशतया भटका करती है। मरणके बाद जीवन और जीवन के पश्चात् मृत्यु है। आत्माकी गम्भीर समस्या तो आत्मगुणोंके विकास और ह्रासमें है। किसी आत्माको पतित होनेसे बचा लेना ही वास्तविक दया है। प्राण-रक्षा उसका आनुषङ्गिक फल है। उन्होंने अपने इस तथ्यको तीन दृष्टान्तोंसे सर्वसाधारणको समझाया।

(१)

एक सेठकी दुकानमें साधु ठहरे थे। रातको कुछ चोर आये और तिजौरिया तोड़कर धन ले जाने लगे। साधु जग पड़े। उन्होंने चोरोंको उपदेश दिया। चोरोंका हृदय बदला, उन्होंने जीवनभरके लिए चोरी करनेका परित्याग लिया। इतनेमें प्रातःकाल

तीन[1] दृष्टान्त

१—अनुकम्पा गीति ४

हुआ। सेठ दुकानमें आया और सारी घटनासे अवगत हुआ। साधुओंके प्रति उसने असीम कृतज्ञता प्रकट की और कहा— आपने मेरे धनकी रक्षा नहीं की, मेरे प्राणोंकी रक्षा की है, आप परम दयालु हैं।

यहां साधुओंके उपक्रमसे दो कार्य हुए। चोरोंकी आत्मा पापसे अर्थात् पतनसे बची और सेठका धन बचा। यहां धर्म केवल चोरोंकी आत्माका जो उत्थान हुआ, वही है न कि सेठकी आत्माको जो सुख मिला वह ; वह तो केवल आनुषङ्गिक फल-मात्र है।

(२)

एक कसाई कुछ बकरोंको लिए जा रहा था। रास्तेमें साधु मिले। साधुओंने कसाईको उपदेश दिया, हिंसाके बुरे फल बतलाये। कसाईका हृदय बदला और उसने जीवनभरके लिए बकरे न मारनेका संकल्प किया।

यहां भी दो प्रतिफल हुए—कसाई पतनसे बचा और बकरों की जान बची। कसाईका आत्मोत्थान धर्म है, बकरोंका जीवित रहना प्रसङ्गोपात्त फल है।

यहां जब प्रश्न सामने आता है, यदि सेठका धन बचना और बकरोंका जीवित रहना भी धर्मके अन्तर्गत मानलिया जाय तो क्या आपत्ति है अर्थात् मान ही लेना चाहिए।

इस प्रश्नका समाधान तीसरा दृष्टान्त है।

(३)

साधु बाजार में किसी दुकान पर ठहरे हुए थे। रातका समय था। सड़क पर कुछ व्यक्तियोंको हँसी-ठट्ठा करते हुए जाते देखा। साधुओंने अपने विशद ज्ञानसे जान लिया, ये कहीं वेश्याके यहां जा रहे हैं। साधु उन्हें उपदेश करने लगे। धीरे-धीरे विषय वेश्या-गमनका आया और उन्होंने उसकी बेहद बुराइयां उन्हें समझाईं। उनका हृदय बदला और उन्होंने वेश्या-गमनका सर्वथा परित्याग किया। इतनेमें इन्तजारमें बैठी वेश्या ऊबकर उन्हें खोजते-खोजते वहां पहुंची और उन्हें चलनेके लिए कहा। उनके इनकार करने पर साधुओं पर और उनपर झल्लाती हुई पासके किसी कुएँ में जाके गिर पड़ी।

यहां भी दो कार्य हुए—उन व्यक्तियोंका आत्म-उत्थान और वेश्याको हिंसा। यदि पूर्वोक्त दृष्टान्तोंमें दोनों प्रतिफल धर्मके अन्तर्गत मानलिये जाते हैं और यदि उस लाभके भागी साधु हैं तो यहां साधुओंको धर्मके साथ-साथ वेश्याकी हिंसाका भागी भी बनना पड़ेगा।

अस्तु—रक्षाके प्रसंगमें आपका निर्णय था—आततायी आत्माको पापोंसे बचाया जाता है और वह भी अहिंसात्मक तरीकोंसे ; वही वास्तविक दया है, जो आध्यात्मिकताकी कोटिमें आ सकती है। शेष दया जिसमें केवल शरीर-रक्षाका ही उद्देश्य है, मोहयुक्त और सांसारिक अर्थात् ऐहिक है।

इस विषयमें उन्होंने दूसरी देन दी—'बचाओ' की अपेक्षा

'न मारो' का सिद्धान्त व्यापक है, वह अपूर्ण है, यह पूर्ण है। क्योंकि बचाओका प्रचार करनेवाला व्यक्ति किसी अंशमें 'मारो' का अभिप्राय भी स्वीकार कर लेता है। यदि नहीं तो वह मत मारोका ही प्रचार क्यों नहीं करता, जिसमें बचाओका विचार स्वतः अन्तर्गर्भित हो जाता है। अतः 'मत मारो' का विचार ही युक्ति व सिद्धान्त-सिद्ध होनेके कारण उपादेय है।

अस्तु—सारे तथ्यको हम इन शब्दोंमें दुहरा सकते हैं—आत्मोत्थानका अहिंसात्मक सहयोग ही तात्त्विक दया है। असंयमी प्राणियोंके प्रति किया गया भौतिक सहयोग मात्र व्यवहार-दया है। उसकी उपयोगिता सामाजिक व्यवहार तक ही सीमित है। मोक्ष-मार्ग तो केवल आध्यात्मिक दया ही है।

आचार्य भिक्षुकी तरह महात्मा गांधीने भी दया व रक्षाके विषयमें संसारको एक नया विचार दिया, जो सर्वसाधारणकी प्रचलित धारणाके नितान्त प्रतिकूल है। वह

गान्धी-दृष्टिकोण

श्री भिक्षुकी विचार-धारामें क्वचित् सर्वतः समाहित होता है और क्वचित् सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखता है। यहां हमें रक्षाकार्यको दो दृष्टियोंसे देखना पड़ता है; साध्य—जिसे बचाया जाता है, साधन—जिस प्रकारविशेषसे बचाया जाता है। आचार्य भिक्षुके मतानुसार धर्मदृष्टि प्राणरक्षामें साध्य व साधन की शुद्धता अनिवार्य्यतः आवश्यक मानती है अर्थात् साधन अहिंसात्मक हो और संयमी। लोक - व्यवहार प्राण - रक्षाको साध्य व

साधनकी विशुद्धताके कठघरेमें नहीं बांधता। व्यावहारिक वातावरणमें साध्य-साधनकी शुद्धता अनिवार्य अपेक्षा नहीं रखती। वहां यह माना जाता है—एक वधिक किसी निरपराध व्यक्तिकी पीठमें छुरा भोंक रहा है, वह यदि उपदेशमात्रसे अपना कृत्य नहीं छोड़ता तो बलात्कार भी वहां प्रयोज्य है।

गांधीजीके विश्वासानुसार प्राण-रक्षामें अहिंसात्मक साधन की अनिवार्य आवश्यकता है।

साधन-शुद्धि पर बल देते हुए वे कहते हैं—

"मछली खानेवालेको जबर्दस्ती मछली खानेसे रोकनेमें बहुत ज्यादा हिंसा है...........जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म[1] है।"

"तब क्या गायको बचानेके लिए मैं मुसलमानोंसे लड़ूंगा या उनकी हत्या करूंगा? ऐसा करके तो मैं मुसलमान और गाय दोनोंका ही दुश्मन बनूंगा[2]।"

"यह तो कहीं नहीं लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमीको मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एकको बचानेके लिए वह दूसरेकी हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रताके साथ समझाने-बुझाने[3] में है।"

भाई, पिता, पति या मित्र अपने आश्रित व आक्रमणकारीके बीच

१—हिन्दुस्तान......... २—हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ ७७

३—हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ ७९

खड़ा हो जाय। या तो आक्रमणकारीको उसके बुरे उद्देश्यसे उसको समझाकर दूर कर देगा अथवा उसे रोकनेमें अपनेको उसमें खत्म होने देगा। इस तरह जीवन देकर न केवल वह अपने कर्तव्य को ही पूरा करेगा, पर अपने आश्रित को भी नया बल देगा जो कि अब शील-रक्षा कैसे करनी, यह जानेगा[1]।"

"तो क्या हमें भी अपराधीकी पीठमें छुरा निकालकर भोंक देना चाहिए? मैं समझता हूं, यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करनेवाले से कहें कि वह निर्दोष रक्तसे हाथ न रंगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वयं उसके कोप-भाजन बन जायं तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए[2]।"

उक्त उद्धरणोंसे हम स्पष्टतया इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि किसी भी स्थितिमें महात्माजीको हिंसात्मक साधन स्वीकार्य नहीं था; चाहे एक मुसलमान एक गायको मार रहा है, चाहे कोई दुष्ट किसी बहिन पर बलात्कार कर रहा है और चाहे किसीकी पीठमें कोई छुरा भोंक रहा है।

उक्त दृष्टिकोण अहिंसा व धर्मके क्षेत्रमें सर्वथा क्रान्तिकारी और आचार्य भिक्षुके विचारोंके साथ सोलह आने सामंजस्य रखनेवाला था। इस दृष्टिकोणके कारण दोनों ही विचारकोंको सर्वसाधारणके असीम विरोधका सामना करना पड़ा। सर्व-साधारणके द्वारा आचार्य भिक्षु दयाके विध्वंसक, अहिंसाके

१—हिन्दुस्तान .... २—हिन्दुस्तान......

उत्थापक माने गये। महात्मा गांधीको तो हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष में साधन-शुद्धि पर जोर देते हुए अपने प्राण ही न्योछावर कर देने पड़े।

आचार्य भिक्षुको अपेक्षा महात्मा गांधीका दृष्टिकोण अधिक आग्रहपरक था। आचार्य भिक्षु केवल अहिंसा और हिंसाका विवेचन ही करते थे। वे कहते थे कि यथासंभव अहिंसात्मक साधनको ही काममें लो। यदि तुम्हें कहीं पर हिंसात्मक साधन की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है और तुम उसे काममें लेते तो उसे हिंसात्मक ही समझो।

महात्मा गांधीने तो मानव-प्राण-रक्षाके सम्बन्धमें अहिंसात्मक साधनको ही प्रयोगमें लानेका आग्रह किया। उनका विश्वास था—मानव-मानवके पारस्परिक व्यवहारमें हिंसात्मक साधनकी नीतिके रूपमें भी कोई उपादेयता नहीं है।

साधनके विषयमें दोनों विचारकोंकी दृष्टिमें जितनी एकात्मकता है, साध्यके विषयमें उतनी ही पृथक्ता। आचार्य भिक्षु का मत था—साध्य अर्थात् जिसकी रक्षाकी जाती है, यदि वह पूर्ण संयमी है तो वह रक्षा अध्यात्म-धर्म है। यदि वह असंयमी अर्थात् हिंसा, असत्य, चौर्य्यमें सूक्ष्मतः या विशेषतः प्रवृत्ति करनेवाला है तो वह रक्षा धर्मानुमोदित नहीं हो सकती। यदि वह सामाजिक दृष्टिसे नीतिपरक है तो अवश्य समाज-धर्म या व्यवहार-धर्म कही जा सकती है।

गांधीजीने सर्वत्र सेवा-धर्मको महत्त्व दिया। उनके विचारों

में साध्यके विषयमें संयमी और असंयमीके दो विकल्प नहीं थे, ऐसा लगता है। कुष्ठीकी सेवा वे स्वयं करते रहे हैं। पड़ोसी और दीन-दुःखियोंकी सेवाको उन्होंने परम धर्म बताया है। आचार्य भिक्षुने सेवाके भी दो भेद बताये—एक आधिभौतिक, एक आध्यात्मिक। किसी पड़ोसी व दीन-दुःखीकी शारीरिक परिचर्या भौतिक सेवा है और किसीको आत्म-पतनसे बचाना व किसी पतितकी आत्माको ऊँचा उठाना आध्यात्मिक सेवा है। भौतिक सेवा समाज-धर्म और आध्यात्मिक सेवा मोक्ष-धर्म है।

'मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म' प्रकरणमें यह बताया गया था, महात्मा गांधी द्वारा व्यवहृत धर्म-शब्द व्यापक है। कहीं वह मोक्ष-धर्मके अर्थमें है और 'बन्दर - प्राण - हरण' आदि बहुतसे प्रसंगोंमें सामाजिक कर्त्तव्यके अर्थमें। यह तो नहीं बताया जा सकता, उनका सेवाके विषयमें व्यवहृत धर्म-शब्द किस अर्थका द्योतक है। हां, इतना अवश्य लिखा जा सकता है, यदि सेवाके प्रसंगमें उनके धर्म-शब्दका हार्द भौतिक और आध्यात्मिकके भेद से उभयात्मक रहा है, तो दोनों विचार-सरणियां एक रूप हो जाती हैं और मोक्ष-धर्मके अर्थमें ही यदि वह प्रयुक्त है तो दोनों विचारधाराएँ पूर्व और पश्चिमकी तरह सर्वथा पृथक् रह जाती हैं।
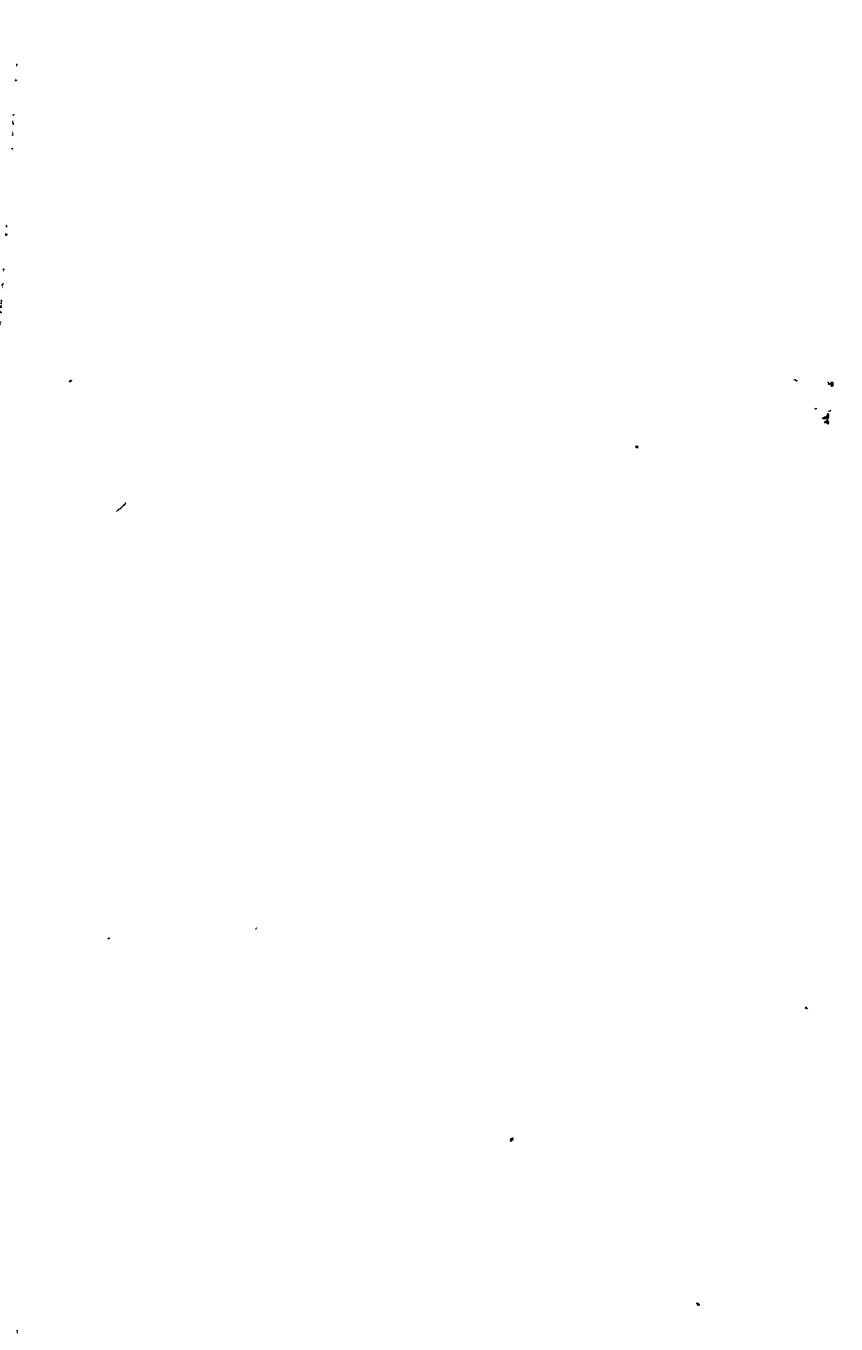
परिशिष्ट : १ :
(आचार्य भिक्षु)

हिंसा री करणी में दया नहीं छै,
दया री करणी में हिंसा नांह।
दया नै हिंसा री करणी जुई छै,
ज्यूं तावड़ों नै छांह॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७० वीं)

भावार्थ—हिंसायुक्त कार्योंमें दया अर्थात् अहिंसा या धर्म नहीं हो सकता और दयाके कार्योंमें हिंसाका कोई स्थान नहीं होता। दया और हिंसाके कार्य ऐसे पृथक्-पृथक् हैं, जैसे धूप और छाया।

जिन मारग री नींव दया ऊपर,
खोजी हुवै ते पावै।
जो हिंसा कियां धर्म हुवै तो,
जल मथियां घी आवै॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७४ वीं)

भावार्थ—जन-धर्मकी नींव दया पर अवस्थित है। जो खोजता है, वह पाता है। जल-मन्थनसे यदि घी निकलता हो तो हिंसा करनेसे धर्म हो सकता है। अर्थात् हिंसामें धर्म हो ही नहीं सकता।

और वस्तु में भेल हुवै,
पण दया में नहीं हिंसा रो भेल।
पूरब नै पश्चिम रो मारग,
किण विधि खावै मेल॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७१ वीं)

भावार्थ—और बहुत सी वस्तुएँ परस्पर मिलकर एक हो सकती हैं पर दयामें हिंसा नहीं मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग परस्पर कैसे मिल सकते हैं।

देश थको दया श्रावक पालै,
तिण नै पिण साध बखाणै।
श्रावक हिंसा करै घर बैठो,
तिणमें धर्म न जाणै॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा १३ वीं)

भावार्थ—गृहस्थ आंशिक दयाका पालन करता है, वह भी प्रशंसनीय है पर गृहस्थ जो हिंसा करता है, उसमें कभी धर्म नहीं होता।

अर्थ अनर्थ हिंसा कीधां,
अहित रो कारण तास।
धर्म रै कारण हिंसा कीधां,
बोध-बीज रो नाश॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ४८ वीं)

भावार्थ—हिंसा चाहे सप्रयोजनकी जाती है या निष्प्रयोजन

आत्माके लिए अहितका ही कारण है। धर्मोपार्जनके लिए जो हिंसा करता है, उसके तो बोध-बीजका ही नाश हो जाता है।

सर्वदा, सर्वप्रकार[1] से, किसी[2] प्रकारके जीवको भय उत्पन्न न करना, अरिहन्त भगवान्ने अभयदान बतलाया है—यह भी दयाका ही नाम है।

दया-दया सब कोई चिल्लाते हैं—दया ही वास्तविक धर्म है, यह ठीक है परन्तु जो सच्ची दयाको जानकर उसका पालन करता है, मोक्ष उसीके नजदीक होता है।

भय दिखाकर, जोर-जबर्दस्ती कर, लोभ-लालच देकर या ऐसे ही अन्य उपायोंसे दया पलवाना कोई दया-धर्म नहीं है। यह तो दूसरेके लिए अपनी आत्माका पतन करना है। दया हृदयकी चीज है, वह बाहरसे ठूंसी नहीं जा सकती।

अहिंसा आत्म-शुद्धिका अनन्य साधन है। जिसप्रकार उच्च स्थान से जल ढलकर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार अहिंसा से निरन्तर भावित होनेवाले प्राणीके कर्म ढल जाते हैं। अहिंसा की उपासनाका ध्येय केवल आत्म-शुद्धि ही है। आत्माकी पवित्रतामें सहायक होनेसे अहिंसा उपास्य है।

१—मन, वचन काया द्वारा करने कराने और अनुमोदनरूप।

२—पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय (हलते-चलते प्राणी)—ये छः प्रकारके जीव जैन-शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते साधु द्वारा जीवोंका नाश होता है फिर भी वह सम्पूर्ण अहिंसक ही है क्योंकि अन्तर-वृत्तियोंके निरोधके कारण वह हिंसाकी जरा भी भावना नहीं रखता। वह हिंसासे सर्व प्रकारसे निवृत्त हो चुका होता है तथा आत्म-जागृति पूर्वक बचनेका प्रयत्न करता रहता है। इस पर भी अपने अपने निमित्तसे जीव मरते ही रहते हैं, उसका पापी वह नहीं कहला सकता।

हे भव्य! तुम वृक्षादिको न काटनेका व्रत लेते हो, वृक्षोंकी रक्षा होती है, तालाब, सर आदि न सुखानेका नियम करते हो तालाब जलसे परिपूर्ण रहता है, लड्डू आदि मिठाई खानेका परित्याग करते हो, मिठाई बचती है, दव लगाने, गांव जलाने आदि सावद्य कार्यों का त्याग करते हो, इससे गांव जंगल आदि की रक्षा होती है। तुम चोरी करनेका त्याग करते हो, दूसरोंके धनको रक्षा होती है। परन्तु वृक्ष, तालाब, लड्डू, गांव आदिके इस प्रकार बचनेसे तुम्हें धर्म नहीं है, न धनकी रक्षा पर धनीके राजी होनेसे। तुम्हारा धर्म इन सबसे परे—तुम्हारे आत्म-संयम—तुम्हारी पापोंसे विरतिमें है। तुम व्रत-ग्रहण कर अव्रत को दूर करते हो, आते हुए कर्मों को रोकते हो, वैराग्यसे आत्माको भावित करते हो, इसीसे तुम्हें धर्म है—तुम्हारी आत्माका निस्तार है।

(श्रीमद् आचार्य भीखणजीके विचाररत्नसे)

आचार्य भिक्षु अपने प्रतिपाद्य तत्त्वको बहुधा दृष्टान्तकी

भाषामें समझाया करते थे। उनके दृष्टांत जन-मानसको छू देने वाले होते थे। उनमेंसे कुछ एक नीचे दिये जाते हैं:—

दो पत्नियां

एक सेठके दो पत्नियां थीं। एक आत्म-तत्त्वको समझनेवाली पण्डिता थी और दूसरी केवल लोक-व्यवहारको सब कुछ समझने वाली। सेठका शरीरान्त होने पर पहली यह मानकर कि शरीर नश्वर है, इसके लिए मोह करना कर्म-बन्धनका हेतु है, चुपचाप वीतराग जनोंका स्मरण करने लगी। दूसरी छाती-माथा कूटने लगी और 'हा अरे' 'हो अरे' कर चिल्लाने लगी। आनेवाले लोग कहने लगे—यही पतिभक्ता है, इसी बेचारीको दुःख हुआ है। उसके (दूसरीके) तो वह लगता ही क्या था।

तात्पर्य—मोक्षदृष्टि लोकदृष्टिसे सर्वथा पृथक् है। तत्त्वज्ञ साधु-जन उस स्थितिमें पहलीकी ही प्रशंसा करेंगे।

(भिक्षु यशरसायन गीति १२ वीं)

पांच रोटियां

एक व्यक्ति रोटियां बना रहा था। एक रोटी बनाकर उसने चूल्हेके पीछे रखली। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी और तीसरी अंगारों पर। चौथीका आटा उसके हाथमें था और शेष पांचवींका भींगा आटा कठौतीमें रखा था॥

इतनेमें एक कुत्ता आया। कठौतीसे लोईको उठाकर ले भागा। वह व्यक्ति झूंझलाकर ज्योंका त्यों उठा और उस कुत्ते

के पीछे दौड़ा। आमदाहके दरवाजेसे ज्योंही गलीमें उतरने लगा, ठोकर खाकर ऐसा गिरा कि हाथकी लोई मिट्टीमें मिल गई। पीछे से एक बिल्ली आई, चूल्हेके पीछेकी रोटीको उठाकर चम्पत हो हो गई। तवेकी तवे पर अंगारोंकी अंगारों पर जल गई। व्यक्ति हैरान होकर सोचने लगा— एक नष्ट नहीं होती तो पांचों ही नहीं होती।

तात्पर्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत हैं। इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् इनमेंसे किसी एक व्रतके टूटते ही शेष चारों भी नहीं रह सकेंगे। अतः कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता—मैं चार तीन आदि महाव्रतोंका पूर्णरूपसे पालन करता हूं।

यही उक्त दृष्टांतका हार्द है।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त ४१)

पतिका नाम नाथू

किसी पुरुषने किसी स्त्रीसे पूछा—क्या तुम्हारे पतिका नाम नाथू है? उसने उत्तर दिया—कौन कहता है मेरे पतिका नाम नाथू है। पुरुषने कहा—क्या पाथू है? वह बोली—मैं नहीं जानती कौन बेचारा पाथू है। पुनः पुरुषने कहा—क्या तुम्हारे पतिका नाम पेमा है? वह झुंझलाकर बोली—क्यों है मेरे पतिका नाम पेमा। इस तरह अनेक नाम लेते लेते जब सही नाम आया तो वह चुप रह गई। इससे व्यक्तिने उसके बिना बोले ही समझ लिया—उसके पतिका नाम यह है।

तात्पर्य—कुछ लोग कुपात्र दानमें भी पुण्य मानते हैं परन्तु जन-समूहमें ऐसा कहना नहीं चाहते लेकिन पूछनेवाला चतुर होता है। उनके न कहने पर भी उक्तप्रकारसे उनकी मान्यता समझ लेता है।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त १६)

वहुतसे लोग व्रत और अव्रतकी पृथक् पृथक् विवेचना नहीं करते। वे प्रवृत्ति और निवृत्तिको एक कर देते हैं। वस्तुतः प्रवृत्तिके स्थान पर प्रवृत्ति है और निवृत्तिके स्थान पर निवृत्ति। दोनोंको एक मान लेनेमें दोनोंका ही महत्त्व नष्ट हो जाता है। घीके स्थान पर घी है और तम्बाकूके स्थान पर तम्बाकू। दोनों का मेल कर देनेसे न घी रहता है, न तम्बाकू।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टांत १६)

धर्मदान वही है, जिसमें चित्त, वित्त और पात्र अर्थात् देने वाला व्यक्ति दिया जानेवाला द्रव्य और लेनेवाला पात्र तीनों शुद्ध हों। तीनोंमें यदि एक भी अशुद्ध हो तो वह धर्म-दान नहीं कहला सकता। जैसे घृत, मैदा और चीनी इन तीनोंके योगसे हलुआ तैयार हो जाता है। पर घृतकी जगह यदि गोमूत्र हो या मैदेकी जगह घोड़ेकी लीद तथा चीनीकी जगह वालू हो तो हलुआ क्या खाक बनेगा।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २१)

दया मात्र ही शुद्ध नहीं होती। वहां (दयामें) भी अहिंसा और संयमकी सुरक्षा अपेक्षित है। दूध दूध ही तो सब एक

नहीं होते। गायका भी दूध होता है, आक और थोहरका भी। एक अमृत है, दूसरा विष।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २४)

बहुतसे आदमी मिश्र-धर्मकी प्ररूपणा करते हैं, कहते हैं—यहां थोड़ी हिंसा है, इसलिए थोड़ा पाप और अधिक प्राणी बच जाते हैं, इसलिए अधिक धर्म। यह गलत सिद्धान्त है। हिंसायुक्त कार्यमें धर्म हो ही नहीं सकता। क्या बहुतसे जीवोंकी रक्षाके लिए कसाईको मारदेना धर्म हो सकता है ?

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २६)

परिशिष्ट : २ :

(महात्मा गांधी)

खादी ने विषे ओछी क्रिया होवाथी तेमां ओछी हिंसा छे.

ता० १५-३-२५

(अहिंसा पृष्ठ १०)

मारी अल्पमति प्रमाणे तो सामान्य जवाव अे ज छे के वाघवरु इत्यादिनो उपद्रव थाय त्यारे तेनो नाश अनिवार्य छे. पाणीमां रहेलां जंतुओनो नाश पण अनिवार्य छे. अनिवार्य हिंसा अे हिंसा मटी अहिंसा नथी वनती. हिंसा ने अहिंसारूपे ओलखवी ज जोइअे. वाघवरुनो नाश कर्या विना कोई चलावे तो ते उत्तम छे अे विषे मने शंका नथी.

ता० ९-८-२५

(अहिंसा पृष्ठ २०-२१)

अहिंसा धर्मना पालन अर्थे मनुष्ये शास्त्रनी अने रिवाजनी मर्यादानुं पालन करवुं जोइअे. शास्त्र हिंसानी आज्ञा नथी देतुं पण शास्त्र अमुक हिंसानी ते कालने सारु अनिवार्य समजी छूट मूके छे. जेमके मनुस्मृतिमां अमुक प्राणीओना वधनी रजा[1] छे अेम मनाय छे. अे वधनी आज्ञा नथी. त्यार वाद विचारमां

१—आज्ञा

उन्नति थई तेथी अेम ठर्युं के कलिकालमां अे छूट नथी. अेथी आजनो रिवाज अमुक हिंसा ने क्षंतव्य गणे छे ने मनुस्मृतिनी केटलीक हिंसानो प्रतिबन्ध करे छे. अमुक छूट शास्त्रे मूकेली छे तेथी आगल बधवानी दलील देखीती रीते खोटी छे. संयम मां धर्म छे. स्वच्छन्द मां अधर्म छे. शास्त्रे आपेली छूट जे मनुष्य न ले तेने धन्यवाद घटे.

ता० ९-८-२५

(अहिंसा पृष्ठ २२)

खेती इत्यादिक आवश्यक कर्मो शरीर-व्यापारनी जेम अनिवार्य हिंसा छे. ते हिंसा नथी मटती पण ते अनिवार्य होई तेनो दोष ओछो लागे छे.

ता० २०-९-२५

(अहिंसा पृष्ठ २५)

उपर कहेली वधी[1] क्रियाओ मां हिंसा छे ज, केमके, क्रियामात्र हिंसामय छे. ते थी सदोष छे. भेदमात्र ओछावत्ता प्रमाणनो छे. देहनो अने आत्मानो संबंध ज हिंसा उपर रचायलो छे. पापमात्र हिंसा छे अने पापनो सर्वथा क्षय अेटले देहमुक्ति, तेथी देहधारी अहिंसा ने आदर्श राखीने जेटले दूर जई शकाय तेटले दूर जाय. पण दूर मां दूर जतां छतां कांइक हिंसा अनिवार्य रहेशे, जेमके श्वासोच्छ्वास अथवा खावुं. अनाजना कणोकणमां

१—समस्त

जीव तो छे ज. अेटले जो आपणे मांसाहारने बदले अन्नाहार करीअे छीअे तो हिंसा मांथी मुक्त रहीअे छीअे अेम न कहेवाय, पण अन्नाहारमां थती हिंसाने अनिवार्य समजी ते आहार करीअे छीअे, अने तेथी ज भोगने अर्थे आहार सर्वथा त्याज्य छे.

ता० ६-६-२६

(अहिंसा पृष्ठ २८)

अहिंसा ने दया मां अेटलो भेद छे जेटलो सोनामां ने तेना घाटमां[1], मूलमां ने बहार नीकलेला वृक्षमां. ज्यां दया नथी, त्यां अहिंसा नथी. अहिंसा नी कसोटी दया छे. अहिंसानुं मूर्त्त-स्वरूप दया छे. तेथी अेम कहेवाय के जेटली दया तेटली अहिंसा.

ता० ३१-३-२१

(अहिंसा पृष्ठ ४९)

मांदगी के अशक्ति सिवाय मनुष्ये मनुष्य पासे ऊंचकाववुं पापरूप लागे छे. मनुष्यनो उपयोग पशुनी जेम कराय ? जे आपणे करवा तैयार न होईअे ते बीजानी पासे केम करावीअे.

ता० २२-३-२५

(अहिंसा पृष्ठ ६४)

१—आकार-विशेष

कोई पण जीवने मारवामां पाप छे अे विषे हिन्दुधर्ममां बे मत सांभल्या ज नथी. मारो अभिप्राय तो अेवो छे के बधा धर्म अे सिद्धान्तनो स्वीकार करे छे.

ता० १०-१०-२६

(अहिंसा पृष्ठ ६७)

आपणे आँख मींचीने जोयुं न जोयुं करीअे अेमां अहिंसा नथी, विचार नथी, विवेक नथी. ज्यारे ज्यारे कूतरांनो उपद्रव थाय त्यारे ते मनुष्ये हाथे मरवानां ज. गृहस्थ-धर्ममां अे हुं अनिवार्य समजुं छुं.

ता० १७-१०-२६

(अहिंसा पृष्ठ ७३)

जीव लेवानो धर्म होई शके छे अे विचारने तपासीअे[1]. आ देहने निभाववा पूरतो जीवतो आपणे लई अे ज छीअे, जेमके वनस्पति आदिना, अने जन्तु नाशक पदार्थो वाटे मच्छरादिनो अने तेम करवामां आपणे अधर्म नथी करता अेम पण मानीअे छीअे.

आतो आपणा अंगत स्वार्थने अंगे. परमार्थने अंगे पण आपणे हिंसक प्राणीओनो नाश करिअे के करावीअे छीअे, सिंहादि ज्यारे गाम लोकने पजवे छे त्यारे तेना नाशने समाज-धर्म समजे छे

मनुष्यवधनो धर्मपण समजाय अेवो छे, अेक मानस गांडपण[2] के भनूनमां[3] नागी तलवारे जे दीठामां आवे तेने कापतो[4] चाल्यो

१—परीक्षा करना २—मूर्खता ३—उन्मत्तता ४—काटता

जाय छे. तेने जीवतो पकडवानी कोईनी शक्ति नथी. जे माणस मारी सके छे. ते परोपकारीमां खपसे. अहिंसानी दृष्टिअे तेने मारवानो धर्म वधाने प्राप्त थाय छे. हा, अेक प्रसंग आमांथी बाद करी शकाय. जे मुनि तेना भनूनने रोकी शके ते तेने नहि मारे. परन्तु आपणे अत्यारे सम्पूर्णतानी टोचे' पहोंचेला मुनिओना वर्तननो प्रश्न नथी, उकेलता, पण समाजनो धर्म अथवा समाजमां राग द्वेषादियुक्त व्यक्तिनो धर्म विचारीअेछीअे.

ता० ३१-१०-२६

(अहिंसा पृ० ८२-८३)

कर्ममात्र सदोष छे केमके तेमां हिंसा रहेली छे. छता कर्मना क्षयने सारु पण आपणे कर्म ज करीअे छीअे. देहमात्र पाप छे, छतां देहने तीर्थ-क्षेत्र बनावीने तेनी वाटे आपणे देहमुक्ति केलवीअे छीअे. तेवुं ज हिंसामात्र नुं समजवुं जोइअे.

पण अे हिंसा केवी होय ? अे स्वाभाविक होय, अे अल्पतम होय, अेनी पाछल केवल करुणा होय, अेणी पाछल विवेक होय, मर्यादा होय, अेने विषे तटस्थता होय; अ सहज प्राप्त धर्म होय.

आ विचारसरणीअे जतां हिंसा प्रतिदिन ओछी ज थती जाय. ते थी जे हिंसानो उद्देश्य अहिंसानो क्षेत्र वधारवानो होय, जे हिंसा अनिवार्य होई थाय, जेनुं परिणाम विना प्रयत्ने जोई

१—दिसर

शकाय अेवुं होय, ते हिंसा क्षंतव्य छे, कर्तव्य पण होय, तेथी हिंसामां अहिंसा होई शके अेम कहेवुं मुद्दल अनुचित नथी.

ता० २८-११-२६

(अहिंसा पृ० १०६-१०७)

खेडूत[1] जे अनिवार्य नाश करे छे तेने में अहिंसामां कदी गणावेल नथी. अे वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज. खेडूतनी हिंसामां अथवा लेखके जो दृष्टांत आप्युं छे तेमां रहेली हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे. अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी.

ता० १४-१०-२८

(अहिंसा पृ० १३९)

महात्माना पद करतां मने सत्य अनन्त गणुं प्रिय छे. हुं महात्मा नथी अेम जाणुं छुं, अल्पात्मा छुं अेवुं मने बरोबर भान छे, तेथी महात्मा पदे मने कदी भमाव्योके भुलाव्यो नथी. मारे कबूल करवुं जोइअे के हुं तो प्रतिक्षण हिंसा करीने ज शरीरने निभावुं छुं, अने तेनी ज तेने विषेनो राग क्षीण थतो जाय छे. आश्रमनी रक्षा करतां पण हिंसा करी रह्यो छुं. प्रत्येक श्वास लेतां झीणा जंतुओनी हिंसा हुं करूं छुं अेम जाणतो छतां श्वासने रुंधतो नथी. वनस्पति आहार करवामां पण हिंसा करूं छुं छतां आहारनो त्याग करतो नथी. मच्छरादिना क्लेशथी बचवाने सारु

१—किसान

घासलेट इत्यादि वस्तुओनो उपयोग करतां तेमनो नाश थाय छे. अेम जाणतो छतां आ नाशक पदार्थोनो उपयोग छोडतो नथी. सरपोना उपद्रवमांथी आश्रमवासिओने बचाववाने सारु, ज्यारे तेने मार्या विना दूर न करी शकाय, त्यारे तेने मारवा दउं छुं. बलदोने चलावतां आश्रमना माणसो तेने परोणा वती मारे छे ते सहन करी लउं छुं. आम मारी हिंसानो अन्त ज नथी.

ता० २८-१०-२८

(अहिंसा पृ० १४८)

आयर्लेन्डे शरीरबलथी स्वराज मेलव्युं छे अेटले जरूर पडे तो तेज बलथी ते तेने बचावे. पण हिन्दुस्तान शांतिना प्रयोगे, खरेखात स्वराज मेलवे तो तेनो बचाव पण मुख्यत्व अेज रीते करवो जोईअे; अने हिंद ज्यां सुधी आ वात अखतरो[१] करी सिद्ध न करी आपे त्यां सुधी मि० चर्चीलने ते वात अशक्य लागे अेमा नवाई नथी.

ता० १२-३-२२

(अहिंसा पृ० १३९)

नजात्मक (Negative) रूपमां अहिंसानो अर्थ कोई पण जीवन्त प्राणीने शरीर के मन थी इजा[२] न करवी अे छे, अेटले अन्याय करनारना शरीरने नुकसान न पहुंचाडी शकाय अथवा तेना प्रति द्वेषभाव न राखी शकाय, अने तेम करीने तेने मानसिक व्यथा पण न आपी शकाय. मारां स्वाभाविक कर्मो जे

१—प्रयोग २—पीडा

द्वेषभावथी जन्मेलां होतां नथी—तेनाथी अन्याय करनारने थती पीडानो समावेश आ कथनमां थतो नथी अेटले तेनी पासेथी बालकने—जेने ते मारवा तैयार थयो छे अेम आपणे कल्पना करीअे—तेनी खसेडी लेतां अहिंसा मने अटकावती नथी. वास्तविक रीते जोतां, मारे अहिंसानो योग्य पालन करवुं होय तो मारे अन्याय करनार नी पासे थी तेना भोग थई पडनारने, बालकने—जो हुं तेवा बालक नो कोई पण रीते पालक होऊं तो—खेंची लेवो जोइअे. अेटले दक्षिण अफ्रिकाना सत्याग्रहीओ माटे अे बहु योग्य हतुं के तेओ, युनियन सरकार जे दुःख तेओने देवा मथती हती, तेनी सामे थया, तेओ सरकार माटे कोई पण प्रकार नो द्वेषभाव धरावता न हता, जे जे वखते सरकारने तेओनी मद-दनी जरूर पडती ते ते वखते मदद करी तेओ अे आ साबित करी आप्युं हतुं. तेओनो विरोध सरकारना हुकमोनो अनादर करवामां हतोः ते अेटली हद सुधीके तेम करतां सरकारना हाथे मरण नीपजे तो पण ते सहन करी लेवुं. अहिंसाना सेवकने पोताने ज समजीने दुःख सहन करवानुं होय छे, परन्तु ते कहेवाता अन्याय करनारने जाणीबूजीने इजा करी शकतो नथी.

भावात्मक Positive रूपमां, अहिंसानो अर्थ विश्वव्यापी प्रेम अने अनहद औदार्य थाय छे. हुं अहिंसानो सेवक होऊं, तो ते मारे मारा शत्रु ऊपर प्रेम राखवो जोइअे. हुं जे नियम मारा अन्याय करनार पिताने के पुत्रने लगाडुं ते ज नियम मारे अन्य अन्याय करनारने—पछी ते मारो शत्रु होय के अजाण्यो माणस

होय – तेनु लागु पाडवो जोइअे. आ क्रियात्मक (Active) अहिंसामां सत्य अने निर्भयतानो अवश्य समावेश थई जाय छे. माणस प्रेमपात्र व्यक्तिने छेतरी[1] शकतो नथी. ते तेनाथी बीतो नथी तेम तेने विवडावतो[2] नथी. अभयदान सर्व दानोमां श्रेष्ठ छे. जे माणस खरेखर ते आपे छे, तेनी पासे सर्व विरोध शमी जाय छे. जे पोते भयग्रस्त छे ते अभयदान आपी शकतो नथी. माटे, तेणे पोते ज निर्णय थवुं जोइअे अेटले, अहिंसानुं सेवन अने भीरुता एक साथे होई शकता नथी. अहिंसाना पालनने अत्यन्त शौर्यनी अपेक्षा छे.

माडर्न रिव्यु अक्टूबर, १९१६

(अहिंसा पृष्ठ १८३-१८४)

अेक दाखलो आपुं : हुं अेक संस्थानो सभ्य छुं; तेनी थोड़ा अेकर जमीन पर वावेतर[3] करेलुं छे. तेने वांदरा गमे त्यारे बगाडे अेवो तात्कालिक भय आवी पड्यो छे. जीवमात्र नुं जीवतर अहिंस्य छे अेम हुं मानुं छुं. अने अेथी, वांदराने कांई पण इजा करवी अेने हुं अहिंसा धर्म नु उल्लंघन गणुं छुं; परन्तु पाक बचाववाने खातर, वांदरां पर तडवुं अेम दोरवणीके प्रेरणा करवामां हुं अचकातो नथी. आवो दोष करवापणुं दूर करी शकाय तो अे मने गमे. अने ते तो हुं संस्थानो त्याग करीने के तेने तोडीनाखीने करी शकुं. पण हुं तेम करतो नथी, केमके जे समाजनां

१—छलना, धोखा देना २—भयाक्रान्त करना ३—कृषि

खेती न होय अने अेथी कांईक पण हिंसा न होय अेवो समाज मली शके अेवी हुं आशा नथी राखतो-तेथी पापभीरु वनी, नम्रतापूर्वक अने तप आचरतो, हुं वांदरां पर गुजाराती इजामां भाग लऊं छुं, अने कोक दहाडो अेमांथी मारो मार्ग मेलवी शकीश अेम आशा सेवुं छुं.

अे ज वृत्ति थी में युद्ध ना त्रण प्रसंगो मां पण भाग लीधो हतो. जे समाजनो हुं छुं, अेनी साथेनो सम्बन्ध हुं न छोडी शक्यो, छोडवो अे मारे माटे गांडपण ज गणाय. अने अे त्रणे प्रसंगो वेला ब्रिटिश सरकार साथे असहकार करवानो तो मारी पासे विचार न हतो. आजे सरकार सम्बन्धी मारी स्थिति तदन[1] भिन्न छे. अने तेथी तेना युद्धमां मारे भाग लेवो न जोइअे, अने जो शास्त्र-धारणके बीजी कोई रीतनो युद्धमां भाग लेवा माटे मारा पर बलभेरी करवामां आवे, तो मारे जेलके फांसीनुं पण जोखम खेडवुं जोइअे.

यंग इण्डिया मांथी ता० १३-९-२८

(अहिंसा पृ० २९२-२९३)

वहुतसे लोग चींटियोंको आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है, मानों आजकलकी जीवदयामें जान ही नहीं रही। धर्मके नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।

मसूरी, २९-५-४३

(हरिजन वन्धु से)

१—सर्वथा

राग द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल हो सकता है; वह वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध सत्य-शोधके मानी है राग-द्वेषादि द्वन्द्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

निर्मल अन्तःकरणको जिस समय जो प्रतीत हो वही सत्य है। उस पर दृढ़ रहनेसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति हो सकती है।

महात्मा गांधी

(जैन भारती से)

अहिंसा मेरा धर्म है, कांग्रेसका धर्म कभी नहीं रहा। कांग्रेस ने तो उसे केवल नीतिके रूपमें स्वीकार किया था। नीति उसी वक्त तक धर्म रह सकती है जब तक कि उसे चलाया जाय, उसके बाद नहीं। कांग्रेसको पूरा अधिकार है कि जिस वक्त जरूरत जाती रहे उसी वक्त नीतिको बदल ले। धर्मकी और बात होती है। वह तो अमर है। कभी बदल नहीं सकता।

—महात्मा गांधी

(हिन्दुस्तान दैनिकसे)

ता० २५ जुलाई १९४०

मेरे प्रयोगमें आध्यात्मिक शब्दका अर्थ है नैतिक, धर्मका अर्थ है नीति, और जिस नीतिका पालन आत्मिक दृष्टिसे किया हो वही धर्म है।

(आत्मकथा—महात्मा गांधी पृष्ठ ९)

मैं यह नहीं कहता कि मेरे प्रयोग सब तरह सम्पूर्ण हैं।

मैं तो इतना ही कहता हूं कि जिस प्रकार एक विज्ञानशास्त्री अपने प्रयोग को अतिशय नियम और विचारपूर्वक सूक्ष्मताके साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामोंको अन्तिम नही वताता, अथवा जिसप्रकार उनकी सत्यताके विषयमें यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगोंको समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मनके एक एक भाग की छानवीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मैं यह दावा हरगिज नहीं करना चाहता कि उनके परिणाम सबके लिए अन्तिम हैं, वे सत्य ही हैं, अथवा वही सत्य है। हां एक दावा अवश्य करता हूं कि वे मेरी दृष्टिसे सच्चे हैं और इस समय तक तो मुझे अन्तिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम उठा लेनेका अधिकार नहीं।

(आत्माकथा—महात्मा गांधी, पृष्ठ ९)

जब हम लोग मानव-बन्धुत्वकी बात करते हैं तो वहीं रुक जाते हैं और हम लोगोंके मनमें आता है कि वाकीके सर्व जीव मनुष्यके अपने भोगोपभोगके लिए सर्जित हैं, परन्तु हिन्दू-धर्म में भोगोपभोगमात्रका विचार त्याज्य माना गया है। जीव-मात्रके साथ इस एकताको साधनेके लिए, मनुष्य जितना त्याग करता है, उतना ही कम होता है, परन्तु इस आदर्शकी विशालता से मनुष्यकी हाजतों पर तो अंकुश होता ही है।

धर्म नो प्राण (व्यापक धर्मभावना पृष्ठ २१)

अहिंसाका उसूल जैसाकि वह आज दुनियांके सामने रक्खा गया है, इन्सानोंके सारे सम्बन्धोंसे हर तरहकी हिंसाको निकाल फेंकना चाहता है। यानी गुस्से, नफरत, लालच और बेरहमीसे किये जानेवाले शोषण—जिनका आखिरी नतीजा लड़ाई, झगड़ा, दुश्मनी और जंग होता है—पर काबू रखा जाय और उन्हें वश में कर लिया जाय। अगर हम आदमी और आदमीके बीचके सम्बन्धोंसे हिंसा को निकालनेमें कामयाब हो जायं तो इन्सानोंकी जमात अपनी तारीखमें तरक्कीका सबसे बड़ा कदम उठायेगी। एकबार इसे हासिल कर लिया गया कि जानवरों पर रहम करने और सारे जीवोंको पूज्य समझनेका काम बड़ा आसान हो जायगा। चल सकनेके पहले ही दौड़नेकी कोशिश न करें। अगर अहिंसाकी भावना एकबार लोगोंके दिलमें बस गई तो वह जरूर बढ़ेगी।

(हरिजन सेवक, रविवार ता० ३० मार्च १९४७)

मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाय तब मुझे क्या करना चाहिए? मैं उसे मार डालूं या उसके पैर पकड़कर उससे ऐसा न करनेकी प्रार्थना करूं? अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए, तो फिर अपने मुसलमान भाईके साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।

(हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७९)

साधुजीवनसे ही आत्मशान्तिकी प्राप्ति संभव है। साधु-जीवनका अर्थ है—सत्य और अहिंसामय जीवन; संयमपूर्ण